बडोदा—शियापुरा—श्री लुहाणामित्र स्टीम प्रिन्टिङ्ग प्रेसमें विट्ठलभाई
आशाराम ठक्कर तरफसे शेठ मोहनलालजी वेद—आगरा—उनके लिये
ता. ६—३—१९१८ रोज छापकर प्रसिद्ध कीया गया.

॥ अर्हम् ॥

परमगुरुश्रीवृद्धिचन्द्रेभ्यो नमः ।

इन्द्रियपराजयदिग्दर्शन.

जिसने बालपनेमें जगको वड़ा पराक्रम दिखलाया,
साथ खेलने वाले सुरने, चमत्कार बलसे पाया ।
ऐसे श्रीप्रभुमहावीरका धरकर ध्यान हृदयसे आज,
करुं ग्रंथकी रचना छोटे, इंद्रियां वश करने काज ॥ १ ॥

संसारमें समस्त प्राणी सुखको चाहनेवाले और दुःख पर द्वेष धारण करनेवाले मालूम होते हैं । यद्यपि सभी प्राणी सुखके साधनोंको प्राप्त करने और दुःखके कारणोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील रहते हैं । तथापि समुचित साधनोंके अभावसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती, और दुःख दूर भी नहीं होता । प्रत्युत दुःख अधिकाधिक समीप ही आता जाता है । इसका कारण इतना ही है कि, जिसको प्राणी सुखका साधन समझते हैं, वह, वास्तवमें सुखका साधन नहीं, किन्तु दुःखको निमंत्रण करके लानेवाला दूत ही है । जैसे पांच इन्द्रियोंके विषय । इन पांचों इन्द्रियोंको सब प्राणी सुखके साधन मानते हैं, परन्तु परिणाममें वे कितने दुःख देनेवाले होते हैं, इसीका दिग्दर्शन इस छोटेसे पुस्तकमें किया जायगा ।

१ स्पर्शेन्द्रिय (शरीर), २ रसनेन्द्रिय (जीभ), ३ घ्राणेन्द्रिय (नाक), ४ चक्षुरिन्द्रिय (आंख) और ५ श्रवणेन्द्रिय (कान), इन

पांचों इन्द्रियोंके नामोंको तो प्रायः सभी मनुष्य जानते ही हैं, परन्तु इन पांचोंके कितने और कौन कौनसे विषय हैं, इनको बहुत कम मनुष्य जानते हैं। अत एव एक एक इन्द्रियके कितने और कौन कौनसे विषय हैं, इसकोही पहले दिखलाते हैं।

इन्द्रियोंके नाम.	विषयोंकी संख्या.	विषयोंके नाम.
१ स्पर्शेन्द्रिय (शरीर).	८	शीत, उष्ण, हलका, भारी, स्निग्ध, रूखा, सुकोमल और कठिन।
२ रसनेन्द्रिय (जीभ).	५	मधुर, आम्ल, तिक्त, कटु, और कषाय।
३ घ्राणेन्द्रिय (नाक).	२	सुगन्ध और दुर्गन्ध।
४ चक्षुरिन्द्रिय (आंख).	५	शुक्ल, नील, हरित, पीत और रक्त।
५ श्रवणेन्द्रिय (कान).	३	शब्द, अपशब्द और मिश्रशब्द।
	२३	

ये सब मिलकर पांचों इन्द्रियोंके तेईस विषय हैं। इन पांचों इन्द्रियोंमेंसे प्रथम स्पर्शेन्द्रियके विषयोंसे होनेवाले दुःखोंकी ओर ख्याल करें।

स्पर्शेन्द्रियः

स्वेच्छाविहारसुखितो निवसन्नगानां
भक्षद्वने किसलयानि मनोहराणि।
आरोहणाङ्कुशविनोदनबन्धनादि
दन्ती त्वगिन्द्रियवशः समुपैति दुःखम् ॥१॥

इच्छानुसार टहलनेमें सुख माननेवाला, पर्वतोंमें निवास करनेवाला और वनमें सुकोमल वृक्षोंकी मनोहर पत्तिओंको खानेवाला हाथी, स्पर्शेन्द्रियके विषयोंमें वशीभूत होकरके आरोहण, अंकुश, प्रेरणक्रिया और बन्धनादि दुःखोंको पाता है। स्पर्शेन्द्रियके विषयोंके वशीभूत होनेसे हाथीकी कैसी अवस्था होती है, इस पर जरा ध्यान दीजिये।

विषयोंमें मस्त बने हुए हाथीको, हजारों कष्टोंका सामना करना पड़ता है। हाथी स्वतंत्रतासे वनमें विचरता है। परन्तु वह हतभाग्य, ज्योंही बनावटी हथनीको देखता है, त्योंही विषयान्ध बनकर उसकी तरफ दौड़ता है। यहाँ तक कि पकड़ा भी नहीं जा सकता। इस समय, उसको फंसानेके लिये एक बड़ा खड्डा बनाया जाता है। जिसपर एक हथनीकी सुंदर आकृति खड़ी की जाती है। हाथी, उस बनावटी हथनीके पास जाकरके, उसके साथ ज्योंही विषय सेवन करनेके लिये तत्पर होता है, त्योंही वह हाथी, उस खड्डेमें धड़ाकसे पड़ता है। इस समय उसको बहुत दुःख होता है। वह खड़ा भी नहीं हो सकता। और ऐसा दिग्मूढ हो जाता है कि—कहीं जाने आनेका रास्ता भी उसको नहीं सूझता। अत एव वह चिल्लाने लगता है। उसकी चिल्लाहटसे जंगलके सभी प्राणी डरने लगते हैं। इस समय हाथीको पकडने वाले मनुष्य भी दूर भाग जाते हैं। अगर ये उसके समीप रहें, तो उनके हृदयोंमें भी एकसमय तो करुणाका संचार अवश्य हो जाय। किन्तु उन

लोगोंका तो यह व्यापारही होनेसे, वे पुनः उसके समीप आते हैं, और करुणाके स्थानमें क्रीडा करने लग जाते हैं। ऐसी अवस्थामें वह हाथी, क्षुधा और तृषासे पीडित होकर जब सर्वथा अशक्त होजाता है, तब हाथीको पकडने वाले जीते जी, उस हाथी पर जो क्रूरता करते हैं, उसका वर्णन करनेके लिये यह लेखिनी बिलकुल अशक्त है। बस, इसी तरह तिर्यंचयोनिमें हाथीसे लेकरके समस्त प्राणीओंकी दशा स्वयं विचार लेनी चाहिये। इसमें भी जन्मसे दुःखी—कुत्तोंकी स्थिति तो खास करके विचारने योग्य है। जिसको पेट भरनेके लिये पूरा अन्न नहीं मिलता, कोई सम्मान नहीं देता, और जिसके शरीर पर वस्त्रका टुकड़ा तक भी नहीं, एवं रहनेके लिये स्थान तक भी नहीं, वे कुत्ते भी कार्तिक महीनेके प्रारंभमें दुःखी होजाते हैं। सड़ी हुई कुत्तियोंके पीछे पीछे गलियोंमें घूमते हैं। भूख और तृषाको भी नहीं गिनते। मनुष्योंके प्रहार भी उतने ही सहन करते हैं। बीमार पड़जाते हैं। बाल गिर जाते हैं। शरीर जीर्ण हो जाता है। यहांतक कि—पागल भी बन जाते हैं। तथापि स्पर्शेन्द्रियके विषयोंको नहीं छोड़ सकते। उन कुत्तोंकी अकथनीय कुमृत्यु अपनी आंखोंसे देखते हैं। वे बिचारे तो एक महीनेके लिये स्पर्शेन्द्रियके विषयोंमें लुब्ध होकर ऐसी उग्रदशाका अनुभव करते हैं, तो फिर, मनुष्य, कि जो बारहों महीने स्पर्शेन्द्रियके विषयोंमें वशवर्ती बने रहते हैं, उनकी कैसी दशा होती है, और होती होगी, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। महात्मा तुलसीदासने ठीक ही कहा हैः—

कारतिक मासके कूतरे तजे अन्न और प्यास।
तुलसी वां की क्या गति जिसके बारे मास॥ १॥

स्पर्शेन्द्रियाधीन प्राणी हमेशा आर्त्तध्यानवाले रहते हैं। इस विषयमें एक यह भी बात विचारने योग्य है कि—मनुष्योंको स्पर्शेन्द्रिय-

जन्य विषयसुख, सिवाय द्रव्यके प्राप्त नहीं होता। और द्रव्यके प्राप्त करनेमें जो परिश्रम, छल, कपट, दंभ और भेदादि करने पड़ते हैं, वे, इसके अनुभवी अच्छी तरह समझते ही हैं। शास्त्रकारोंने तो धर्मके निमित्तसे द्रव्यप्राप्ति करने वालेको भी आर्त्तध्यानी कहे हैं। तो फिर अन्य कारणोंसे द्रव्यकी इच्छा रखनेवालोंके लिये तो कहना ही क्या?। हरिभद्रसूरि कहते हैं:—

"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरतोऽस्पर्शनं वरम्" ॥ १ ॥

जिसको धर्मके लिये द्रव्यकी इच्छा होती ह, उसकी अनीहा (इच्छारहितता) ही श्रेष्ठ है। क्योंकि, किच्चडमें पाऊं डालकर फिर धोनेकी अपेक्षा, किच्चडसे दूर रहना—स्पर्श नहीं करना ही अत्युत्तम है।

उपर्युक्त कथनमें धर्मबुद्धिसे भी द्रव्यसंग्रहकी इच्छाका निषेध किया गया है। क्योंकि इसमें भी आर्त्तध्यान रहा हुआ है। यहाँ यह शंका उपस्थित हो सकती है कि, "जब महानिशीथादि सूत्रोंमें और अन्य धर्मग्रंथोंमें ऐसा कहा गया है कि—द्रव्यवान् पुरुष, अपने द्रव्यसे जिनमंदिरादि देवालय बनवावे, तो वह बारहवें स्वर्गमें जाय, तब, द्रव्यके लिये आर्त्तध्यान कैसे दिखलाया?।" इसका उत्तर यह है:— जिनमंदिरके बनवानेमें जो बारहवें स्वर्गकी प्राप्ति दिखलाइ है, यह अपने विद्यमान द्रव्यका जिनमंदिरके बनवानेमें सदुपयोग करे, इसके लिये। क्योंकि, अपनी विद्यमान लक्ष्मीका व्यय करनेमें, इतने द्रव्य परसे मूर्च्छा उतरती है—लोभकी न्यूनता होती है। और मंदिरादिके बनवानेकी आशासे भी, द्रव्यके इकट्ठे करनेकी इच्छा रखनेवालेकी लोभ-वृत्ति अधिक जागृत रहती है। एवं हमेशा विचार द्रव्यविषयक ही रहते हैं। धनवृद्धि करानेके लिये उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती।

वैसे विषयसेवनके लिये भी। जीवके साथ अनादि कालसे कर्मबन्धके कारण रहे हुए हैं। जैसे बच्चेको स्तनपानकी क्रिया सिखानी नहीं पड़ती। वह स्वयं उसमें प्रवृत्त होता है। उसी तरह जीव मोहनीय कर्म की प्रबलतासे क्रोध, मान, माया और लोभादि १६ कषाय, एवं हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगंछा, स्त्रीचेष्टा, पुरुषचेष्टा और नपुंसकचेष्टादि करता है। सिर्फ उसको धर्मशिक्षा देनेकी आवश्यकता है। बस, इसी कारणसे शास्त्रकार विद्यमान द्रव्यकाही सत्कार्योंमें व्यय करनेकी आज्ञा करते हैं। परन्तु द्रव्यके संग्रह करनेको नहीं कहते। क्योंकि, द्रव्य आर्त्तध्यानका कारण है।

इसका सारांश यह है कि, जब धर्मके लिये भी, द्रव्य प्राप्त करनेकी इच्छामें, शास्त्रकारोंने आर्त्तध्यान दिखलाया, तो फिर स्पर्शेन्द्रियके विषयभोगके लिये द्रव्यकी इच्छा करनेमें महान् पाप हो, इसमें कहना ही क्या ?। अब, पापसे पैदा किये हुए द्रव्यसे स्पर्शेन्द्रियके विषयसुखको भोगनेवाला प्राणी क्या कहीं भी सुखी हो सकता है? बहुतसे मनुष्य, विषयसेवनसे अनेक रोगों द्वारा कष्ट पाते हैं। इस जमानेमें ऐसे बहुतसे मनुष्य देखनेमें आते हैं, जिनको प्रमेह, गरमी, बद, खूनविकार वगैरह रोग हो जाते हैं। उनमेंसे कुछ मनुष्य तो वैद्योंके कथनानुसार बहुत दिनोंकी लंघनें और अनेक उपचारोंके करनेसे—आयुष्यकी प्रबलतासे अच्छे होते हैं। कुछ मनुष्य, राजदंड और लोकापवादोंके भी प्रहारोंको भोगते हैं। कुछ लोग परंपरासे चली आई लक्ष्मीका नाश करके मालमिलकतको फूक—फाक करके भिख मंगे हो जाते हैं। और कई तो रोगोंसे ही मृत्युके मुखमें प्रवेश करजाते हैं। कहांतक कहा जाय ? स्पर्शेन्द्रियके विषयोंमें लुब्ध मनुष्य द्रव्य, शक्ति, शरीर यावत् अपने सर्वस्वका क्षय करके इस लोक और परलोकमें बड़े बड़े दुःखोंको भोगते हैं। निदान, उनके दोनों भव बिगड़ जाते हैं।

रसनेन्द्रिय.

तिष्ठञ्जलेऽतिविमले विपुले यथेच्छं
सौख्येन भीतिरहितो रममाणचित्तः ।
गृद्धो रसेषु रसनेन्द्रियतोऽतिकष्टं
निष्कारणं मरणमेति षडीक्षणोऽत्र ॥ १ ॥

विपुल और बहुत निर्मल जलमें रहनेवाला और सुखसे निडरताके साथ खेलनेवाला मत्स्य, रसनेंद्रियके विषयमें लुब्ध होकर निष्कारण अत्यन्तकष्टपूर्वक मत्युको प्राप्त होता है ।

पानीमें आनंदपूर्वक रहनेवाले मत्स्य और कच्छपादि भी असाधारण दुःख वेदनाओंको भोगते हुए मृत्युको प्राप्त होते हैं । इसका कारण रसनेन्द्रियके विपयकी लोलुपता ही है । मच्छीमार, जब मछलियोंको पकड़नेके लिये दोरी डालता है, तब उसमें आटेकी गोलियां या खानेकी चीज लगाता है । उसको खानेके लिये मछली ज्यों ही अन्दर आती है, त्यों ही उसमें फंस जाती है । वह उसमें फंसते ही मृतप्रायः तो होही जाती है। तत्पश्चात् मच्छीमार पत्थरपर घिस घिस करके उसके कांटे निकाल देता है । और इसके बाद उसके टुकडे करता है । यहाँ तक वह सचेतन देखनेमें आती है । क्योंकि, मछलीके प्राण इतने कठिन होते हैं, कि, वे सहसा शरीरसे पृथक् नहीं हो सक्ते । यहाँ तक कि, कभी कभी चूह्लेके ऊपर पकाते हुए भी उसके टुकडे हिलते हुए मालूम पड़ते हैं । प्रियपाठक ! मछलीकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था क्यों होती है ? एक मात्र रसनेन्द्रियके विषयोंकी लालचसे ही । इसमें अन्य कोई कारण नहीं ।

यह तो मछलीकी अवस्था दिखलाई, परन्तु जो मनुष्य इसी रसनें-

द्रियके विषयोंके अधीन होकर मछली आदिका भक्षण करता है, उसकी दशा तो मछलीसे भी खराव होती है। प्रथम तो देखिये, मछलीको खानेवाला मनुष्य समस्त तुच्छवस्तुओंको खानेवाला कहा जाता है। क्योंकि–'**मत्स्यादः सर्वमांसादः**' यह एक सामान्य वचन है। जैसे, मत्स्य मरे हुए जीवोंको खाता है, वैसे विष्ठा वगैरह तुच्छ पदार्थोंको भी खाता है। जब ऐसा ही है, तब, मत्स्यको खानेवाला सभी तुच्छ पदार्थोंको खाता है, ऐसा कहनेमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि–मत्स्यके खानेवालेको अनेक प्रकारके रोग भी उत्पन्न होते हैं। अन्न पाचन नहीं होता। डकार भी खराव आती है। उस मनुष्यका पसीना भी दुर्गन्धवाला होता है। इतना ही नहीं, कुष्ठादि बड़े बड़े रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तक कि–उसकी मृत्यु भी बहुत खराव हालतसे होती है। इसके सिवाय मांस खानेवाला मनुष्य प्रभुभजन करनेका भी अधिकारी नहीं है। क्योंकि, यह विचारनेकी वात है कि, मुड़देको छूनेसे तुर्त स्नान करना पड़ता है। सिवाय स्नान करनेके किसी भी वस्तुको छू भी नहीं सकते। वैसे प्रभुकी पूजा भी नहीं की जा सकती। यह वात सर्वसम्मत है। अब, जो मांस खानेवाला मनुष्य है, वह विना जीवके मरनेके मांस खा नहीं सकता और जब मरे हुए जीवका मांस अपने पेटमें डालेगा, तब वह स्नान, संध्या और देवजपून वगैरह कैसे कर सकेगा ?। जरासा सोचिये, इस महान् अनर्थको उत्पन्न करनेवाला कौन ? दूसरा कोई नहीं ? एक ही रसनेन्द्रियके विषयकी लोलुपता !।

यहाँ एक बात कह देनी आवश्यक है। '**यत्र भोगास्तत्र रोगाः**' यह एक सामान्य नियम है। अर्थात जहां भोग हैं, वहाँ रोग हैं। अब, रसनेन्द्रियके विषयोंमें लंपट मनुष्य किसी दिन भक्ष्याभक्ष्यका

भी विचार करता नहीं है। 'जो आया सो खाया' ऐसी ही उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। इस विषयमें विशेष विवेचन देखनेकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि, वे मेरे बनाये हुए 'अहिंसादिग्दर्शन' नामक पुस्तकको देखें।

जगतके समस्त प्राणी कर्माधीन हैं, इसलिये, और उनको सच्चे मार्गका ज्ञान नहीं होनेसे रसनेन्द्रियजन्य सुखकी प्राप्तिके लिये निंदनीय पदार्थोंका भक्षण और अनाचरणीय व्यवहारका सेवन करते हैं। जैसे कि, कई मनुष्य तो ऐसे ही देखनेमें आते है, जो वीरपरमात्माके भक्त होनेका दावा करते हुए भी अष्टमी, चतुर्दशी वगैरह तिथियोंका तिरस्कार करके कंदमूलादिके भक्षण करनेमें भी उठा नहीं रखते। परन्तु उनको समझना चाहिये कि– कंदमूलादिके भक्षण करनेका निषेध जैन-शास्त्रोंमें ही नहीं, हिन्दुधर्मशास्त्रोंमें भी है। देखिये मनुस्मृतिका पांचवां अध्याय—

" लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च" ॥ ५ ॥

लहसुन, गाजर, पियाज, वर्षाकालमें वृक्ष तथा भूमिपर जमनेवाला छाता और विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुओंसे उत्पन्न शाक वगैरह द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों) के लिये अभक्ष्य हैं।

इसी तरह व्यासस्मृतिके तीसरे अध्यायमें भी पियाज, सफेदबेंगन, शल्गम और गाजर वगैरहका निषेध किया है। ऐसी तुच्छ और अभक्ष्य वस्तुएँ भी बहुतसे लोग एक मात्र जिव्हेन्द्रियकी लालचसे खाते हैं। परन्तु वे यह नहीं समझते कि, अभक्ष्य वस्तुओंके भक्षण करनेमें कितना पाप लगता है। इसी तरह रात्रिभोजनका निषेध भी जैन और

जैनेतर सभी शास्त्रोंमें युक्तिपूर्वक किया हुआ है। एवं शारीरिक नियम और नीति–रीतिके देखनेसे भी यही मालूम होता है कि, रात्रिभोजन नहीं करना ही सर्वोत्तम है। तथापि मनुष्य रात्रिभोजन करनेमें जरासा भी नहीं हिचकते। देखिये, दिनकी अपेक्षा रात्रिके समयमें जीव अधिक उडते हैं। और दीपकके प्रकाशको देख करके तो और भी अधिक आ जाते हैं। ये जीव, जैसे रातको अपने शरीर पर वैठते हैं, वैसे ही भोजन पर भी। अव उस भोजन पर वैठे हुए जीवोंमेंसे कितने जीव, रात्रिभोजन करनेवालेके पेटमें जाते होंगे, इसका विचार करना कठिन नहीं। इस प्रकारके जीते जीवोंके भक्षण करनेवाले मांसाहारियोंसे भी अधिक निर्दय हैं, ऐसा किसी अपेक्षासे कहा जाय, तो अनुचित न होगा। यह तो जीवोंके भक्षणके विषयमें वात हुई, परन्तु वहुतसे रात्रिभोजन करनेवाले, रात्रिभोजनसे अपने प्राणोंको भी खो वैठते हैं, ऐसे अनेकों प्रसंग धोलेरा, खंभात और कलकत्ता वगैरह शहरोंमें वने हुए सुनने और देखनेमें भी आए हैं। ऐसे ही प्रसंग वर्त्तमानपत्रोंमें भी वहुत दफे पढनेमें आते हैं। इन्हीं कारणोंसे शास्त्रकारोंने रात्रिभोजनमें जोर देकरके पाप दिखलाया है। यहां तक कि, यद्यपि साधुओं के लिये पांच महाव्रत दिखलाए हैं, परन्तु जिस समय साधु दीक्षित होता है, उस समय पांच महाव्रतोंके साथ रात्रिभोजनको छठवाँ व्रत गिनकरके उसका भी उच्चारण कराया जाता है। कहीं कहीं तो यहाँतक कथन पाया जाता है कि–'रात्रिभोजनमें इतने दोष हैं, जिनको केवली जानसकते हैं, परन्तु कह नहीं सकते।' इस पर अगर सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय, तो यह ठीक ठीक ही मालूम होगा। क्योंकि, रात्रिभोजनमें दोष अपरिमित हैं। और आयुष्य परिमित है। और इसमें भी वचनवर्गणाएं यथाक्रमसे निकलती हैं। अव वतलाइये, छोटे आयुष्यमें अपरिमित दोषोंका सम्पूर्णरीत्या स्पष्टीकरण कैसे होसकता है ?

पूर्वकालमें जैन और हिन्दु—कोई भी रात्रिभोजन नहीं करते थे। यह वात इस वचनसे सिद्ध होती है। 'जैन रात्रिभोजन नहीं करते हैं' ऐसी लोकोक्ति जगत्में सुप्रसिद्ध है। परन्तु हिंदुओंके लिये वैसी प्रणाली नहीं है। प्रत्युत इससे उल्टीही प्रथा जगजाहिर है। कुछ हिन्दु ऐसे हैं, जो चातुर्मासमें रात्रिभोजन नहीं करते और आठ महीनोंमें करते हैं। किन्तु वहुत लोग तो वारहों महीनोंमें रात्रिभोजन करते हैं। यह प्रथा प्राचीन नहीं, परन्तु अर्वाचीन है। सोचिये—

जैसे, ब्राह्मणमात्रको एक ही दफे भोजन करनेकी आज्ञा पुराणोंमें दी गई है। वैसे ही दो दफे भोजन करनेकी आज्ञा भी उन्हीं पुराणोंमें है। यह वात आगे चलकर स्पष्ट की जायगी, परन्तु यहां पर यह दिखलाना समुचित समझा जाता है कि, दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं:—१ लौकिक, और २ लोकोत्तर, पहिले लौकिक दृष्टान्तको देखिये।

मुसलमानों के रीत—रीवाजों के देखनेसे मालूम होता है, कि, वे हिन्दु और जैनोंसे भिन्न ही हैं। एक ही दृष्टान्त लीजिये। समस्त आर्य पूर्व और उत्तर दिशाको मानते हैं, तव मुसलमान पश्चिम दिशाको। इसी तरह आर्य, सूर्यसाक्षीसे भोजन करते हैं, तव मुसलमान रोजेके दिनोंमें दिनको नहीं खाकर रात्रिभोजन करते हैं। इस दृष्टान्तसे भी हम ऐसा मान सकते हैं कि—हिन्दु और जैन—समस्त आर्य प्रजाने रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये।

यहां तक तो व्यावहारिक दृष्टान्तोंसे समझाया गया, परन्तु अव थोडी देरके लिये शास्त्रीय प्रमाणोंकी ओर दृष्टिपात करें। पहिले कूर्मपुराणको देखें। कूर्मपुराणके २७ वें अध्यायमें, पृ. ६४९, पंक्ति ९—१० में लिखा हैः—

" न द्रुह्येत् सर्वभूतानि निर्द्वन्द्वो निर्भयो भवेत् ।
* न नक्तं चैवमश्नीयात् रात्रौ ध्यानपरो भवेत् " ॥१॥

सब प्राणियोंपर प्रेमभाव रक्खे । रागद्वेषरहित और निर्भय रहे, एवं रात्रिभोजन न करे । निदान, रात्रिके समय ध्यानमें तत्पर रहे ।

आगे चलकर इसी पुराण के पृ. ६९२ में भी लिखा हैः—

' आदित्ये दर्शयित्वान्नं भुञ्जीत प्राङ्मुखो नरः । '

सूर्यकी विद्यमानतामें (गुरुको) अन्न दिखा कर पूर्व दिशाके सामने बैठकर भोजन करे ।

पाठकोंको यहां यह समझनेकी आवश्यकता है कि, साधुओंको प्रत्येक कार्य गुरुकी आज्ञापूर्वक करने चाहियें । आहार निहारादिमें भी गुरुकी आज्ञा अवश्यमेव अपेक्षित है। इसी कारणसे उपर्युक्त पदमें 'गुरु-आज्ञा ' का अध्याहार कर लेना पडा है । सिवाय अध्याहारके वाक्यका अर्थ यथार्थ नहीं हो सकता ।

इस प्रकार कूर्मपुराणके ही नहीं, अन्यान्य औरभी ऐसे बहुतसे वचन हैं, जिनमें रात्रिभोजनका सर्वथा निषेध किया है। जैसेः—

" अम्भोदपटलच्छन्ने नाश्नन्ति रविमण्डले ।
अस्तंगते तु भुञ्जाना अहो ! भानोः सुसेवकाः" ॥१॥

यह कितना आश्चर्यका विषय है कि— जो सूर्यभक्त, जब सूर्य मेघमंडलसे ढक जाता है, तब भी भोजन नहीं करते, वे ही सूर्यभक्त, सूर्यकी सर्वथा अस्तदशा में अर्थात् रात्रिके समय भोजन करनेमें जरा-साभी शंकित नहीं होते । और भी देखिये—

---

* ' न नक्तं किञ्चिदश्नीयात् ' इत्यपि पाठः ।

" ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते " ॥१॥

जो सत्पुरुष, सर्वदा रात्रिभोजन नहीं करते हैं, उनको एक महीनेमें पनरह उपवासोंका फल होता है।

चोवीस घंटोंका दिन दो हिस्सोंमें वटा हुवा है:-१ दिन और २ रात्रि। अब विचार करनेकी बात है कि—जब दिनमें भूखे रहनेसे 'उपवास' अथवा 'व्रत' माना जाता है, तो फिर, रात्रिमें सर्वथा आहार पानी नहीं लेनेवाला उपवासी अथवा व्रती क्यों न माना जाय ?। इस हिसाबसे हरएक दिनमें आधा उपवास करनेवालेको एक महीनेमें पनरह उपवासोंका फल होना युक्तिसंगत ही है। इत्यादि बातें समझ करकेही **महाभारत** के शान्तिपर्वमें और **मार्कंडेयादि** पुराणोंमें रात्रिभोजनके त्याग करनेसे फल और रात्रिभोजनके करनेमें पाप दिखलाया है।

कुछ लोगोंका यह ख्याल है कि—' उपर्युक्त बातोंसे संन्यासियोंके लियेही रात्रिभोजनका निषेध किया गया है, गृहस्थोंके लिये नहीं।' लेकिन यह ठीक नहीं है। देखिये पुराणकाही एक श्लोक—

" नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर ! ।
तपस्विनां विशेषेण गृहिणां च विवेकिनाम् " ॥ १ ॥

हे युधिष्ठिर ! विवेकी गृहस्थोंको रात्रिमें पानी पीना भी उचित नहीं है। तपस्वियोंको तो खास करके नहीं पीना चाहिये। इसका कारण दिखलाते हुए कहा है—

" मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतकं जायते किल ।
अस्तंगते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम् ? " ॥ १ ॥

स्वजनके मरनेसे सूतक आता है, तो फिर दिवानाथ सूर्यकी अस्त दशामें भोजन क्योंकर किया जा सकता है ?।

यह तो सब कोई जानते ही हैं कि--किसीके कुटुंबमें छोटासा बालक भी मर जाता है, तो उस कुटुंबका कोई भी मनुष्य भोजन नहीं करता। शहरमें राजा या कोई बडे मनुष्यकी मृत्यु होती है, तो, धर्म और नीतिको समझनेवाला कोई भी मनुष्य, तब तक भोजन नहीं करता, जब तक उसका अग्नि संस्कार नही होजाता है। जब ऐसी ही अवस्था है, तो फिर दिवानाथ--सूर्यकी अस्तदशामें तो भोजन कैसे हो सकता है ?।

इसमें एक और बात कह देनी समुचित है। जिस समय सूर्यग्रहण लगता है, उस समय कोई भी आर्यजन भोजन नहीं करता। इसका कारण यही है कि--सूर्यकी साक्षीमें भोजन करने वाले सूर्यकी ग्रहणावस्थामें भोजन कैसे कर सकते हैं ?। कदाचित् कोई यों कहे कि, " नहीं, वैसा नहीं है। राहु नीच होनेसे सब वस्तुएं अस्पृश्य हो जातीं हैं। इस लिये भोजन नहीं करते।" परंतु यह ठीक नहीं। जरा युक्तिपूर्वक विचारना चाहिये कि--" राहु, नव ग्रहोंमें है या नहीं ?। अगर है, तो फिर, जब प्रसंग आने पर घरमें नवों ग्रहोंकी स्थापना की जाती है, तब, राहुकी स्थापना करनेसे सभी वस्तुएं अस्पृश्य क्यों नहीं होतीं ?। कदाचित् यों कहा जाय कि--' वह तो मूलग्रह नहीं है, स्थापना है।' तब, क्या स्थापनाको मूल जैसा नहीं मानते ?। अगर मूलकी तरह न माना जाय, तब तो जिस इरादेसे घरमें नवों ग्रहोंकी स्थापना की जाती है, वह इरादा भी सफल नहीं हो सकेगा। अगर ऐसा कहा जाय कि--' ग्रहणके समय तो वह मूलग्रह है और प्रत्यक्ष भी होता है '। तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि, उस स-

मय भी मूलग्रह तो परोक्ष ही रहता है। और जो कुछ देखनेमें आता है, वह तो उसके विमानकी छाया ही है। छायासे वस्तुएं अस्पृश्य नहीं हो सकतीं। और अगर होती ही हों; तब तो, घरकी समस्त वस्तुएं हो जानी चाहियें। और यदि समस्त वस्तुओंको अस्पृश्य ही मानते हो, तो घी, गुड एवं अन्नादि क्यों नहीं फेंक देते ?। घरकी समस्त वस्तुओंको क्यों नहीं धोते ?। इस पर भी अगर कोई यह कहे कि—'उन वस्तुओंमें डाभके रखनेसे वे अस्पृश्य नहीं होतीं।' सो भी ठीक नहीं है। हम पूछते हैं कि—' इस बात पर तुम्हारी श्रद्धा ही है या वास्तवमें ऐसा कोई अनुभव है ?। यदि श्रद्धा ही है, तब तो वह बात युक्तिसंगत नहीं होनेसे प्रामाणिक समाजमें मान्य नहीं हो सकती। 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे कदाचित यों मान भी लिया जाय कि, डाभके एक एक तृणके रखनेसे वे वस्तुएं अस्पृश्य नहीं होतीं; तब तो फिर सभी वस्तुओंमें डाभके एक एक तृणको रख करके अस्पृश्यतासे बचा लेनी चाहिये। और ऐसा करनेसे पुराने जमानेके मट्टीके बरतनोंके फेंक देनेका तो समय न आवे !।

प्रियपाठक ! संसारमें आग्रह भी एक ऐसी वस्तु है कि, वह, सत्यवस्तुको भी स्वीकार करानेमें बाधा डालती है। और इसीका यह नतीजा है कि, मनुष्य रात्रिभोजन करते हैं। ग्रहणकी वास्तविक हकीकत यह है:—

राहु दो प्रकारके हैं:—१ **नित्यराहु** और २ **पर्वराहु**। नित्यराहु हमेशा चन्द्र के साथ रहता है, और पर्वराहु पूर्णिमा अथवा अमावास्या के दिन चन्द्र और सूर्यको आच्छादित कर लेता है (घेर लेता है) अब विचारना चाहिये कि—नित्य राहुसे अशुद्धिको न मानना, और पर्वराहुसे मानना, यह भी एक प्रकार की विचित्रता ही है। और यह तो निश्चय ही है कि— नित्यराहु सभों को मानना ही पड़ेगा।

यदि न माना जाय, तो द्वितीयासे लेकर के पूर्णिमा तक चन्द्र क्रमशः खुलता हुआ क्यों देखनेमें आता है ? । कदाचित् कोई यह कहे कि–'यह तो पृथ्वीकी छाया पड़ती है।' सो नहीं है। क्योंकि–चंद्रके साथ राहुका विमान चंद्रसे कुछ नीचे गति करता है। ज्यों ज्यों चंद्रकी गति बढ़ती जाती हैं, और राहुकी गति न्यून होती जाती है, त्यों त्यों चंद्र अधिकाधिक प्रकाशित होता जाता है। यह बात जैनशास्त्रोंमें युक्तिपूर्वक बड़े विस्तारसे दिखलाई हुई है। इस प्रसंगपर यह स्पष्टरूपसे कहना चाहिये कि–जैनलोग भी ग्रहण के समय आहार या पठन–पाठन नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि–अप्रकाश, और ग्रहगति वक्र होनेसे उस समयको तुच्छ माननेमें आता है।

उपर्युक्त बातों से पाठक समझ गये होंगे कि–जब ग्रहण के समयमें भी भोजन करने का सर्वथा निषेध है। तब, रात्रि के समयमें तो भोजनका सुतरां निषेध हो गया। इसी रात्रिभोजन के लिये **मार्कंडेयपुराणमें** तो यहाँतक कहा है:—

" अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा " ॥१॥

सूर्यके अस्त होनेपर पानी रुधिर समान, और अन्न मांसतुल्य होता है। यह बात मार्कंडेयपुराणमें मार्कंडऋषिने कही है। और भी कहा है:—

" रक्तीभवन्ति तोयानि अन्नानि पिशितानि भोः।
रात्रौ भोजनसक्तस्य ग्रासे तन्मांसभक्षणम् " ॥१॥

पानी रक्त और अन्न मांस होता है। रात्रिके समयमें भोजन करनेवाले मनुष्यको ग्रास (कवल) में भी मांसभक्षण कहा हुआ है।

कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि–" पुराणोंमें ' **प्रदोपव्रत** ' और ' **नक्तव्रत** ' दिखलाये हुए हैं। इस तरह कहीं कहीं ऐसा भी कहा है कि–' द्विर्वारं द्विजानां भोजनं, प्रातः सायं च '। इत्यादि शास्त्रोंका पालन रात्रिभोजन के सिवाय कैसे हो सकेगा ?।" इसका उत्तर यह है:–'**प्रदोप**' रात्रिके मुखको कहनेमें आता है। ' **प्रदोपो रजनीमुखम्** । ' अत्र, रात्रिका मुख दो घड़ी दिन बाकी रहे, तबसे गिना जाता है। अत एव **प्रदोपव्रत** वालेको रात्रिमें भोजन करनेकी जरूरत नहीं है। जब दो घड़ी (४८ मीनिट) दिन बाकी रहे, तब एकाशन करके भोजन करलेना चाहिये। **नक्तव्रत** के लिये भी ऐसाही नियम है:—

" दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
नक्तं तद्विजानीयान्न नक्तं निशिभोजनम् " ॥१॥

दिनके आठवें भागमें जब सूर्यका तेज न्यून हो, तब ' **नक्त** ' जानना चाहिये। रात्रिको ' **नक्त** ' समझनेका नहीं है। अन्यत्र भी ऐसा हि लिखा है:—

" मुहूर्त्तोनं दिनं नक्तं प्रवदन्ति मनीपिणः ।
नक्षत्रदर्शनान्नक्तं नाहं मन्ये गणाधिप ! " ॥ १ ॥

हे गणाधिप ! एक मुहूर्त्त न्यून दिनको बुद्धिमान् मनुष्य ' **नक्त** ' कहते हैं। नक्षत्रके दर्शनसे मैं ' **नक्त** ' नहीं मानता हूं।

उपर्युक्त वृत्तान्तसे ' **प्रदोपव्रत** ' और ' **नक्तव्रत** ' का समाधान सम्यग्रीत्या हो जाता है। अब रही एक और बात–' ब्राह्मणों को दोवार भोजन करना चाहिये–**सायंकाल** और **प्रातःकाल** । ' इसमें **प्रातःकाल** के लिये तो विवाद ही नहीं है। ' **सायंकाल** ' के

लिये मतभेद है। 'सायंकाल' के समयको 'रात्रिका समय' तो कह ही नहीं सकते। क्योंकि, यदि यहाँ रात्रिका ही समय लेना होता, तो 'सायंकाल' के स्थानमें 'रात्रिकाल' ही लिखते। व्यवहारमें भी रात्रिके समयको कोई सायंकाल नहीं कहता। अब 'सायंकाल' शब्दसे 'सूर्यास्तके समय' को भी नहीं ग्रहण करसकते। क्योंकि, सूर्यास्तके समयमें तो रात्रिभोजनका सर्वथा निषेध ही दिखलानेमें आया है। अत एव कहना और मानना पड़ेगा कि—'सायंकाल' शब्दसे सूर्यास्तसे पहिले दो घड़ी (४८ मीनिट) का ही समय है। अर्थात् शामके ४ से ५ बजेका समय समझना चाहिये। लोकमें भी ऐसी रूढि देखनेमें आती है कि—यदि कोई मनुष्य किसीको यों कहे कि—'भाई! शामको पधारना।' तब वह सूर्यास्तके पहलेही उसके पास जायगा। न कि सूर्यास्तके समय, या रात्रिमें। अगर सूर्यास्तके पश्चात् बुलाना होगा, तब तो 'रात को पधारना' ऐसा ही कहेगा।

उपर्युक्त दृष्टान्त और शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह निश्चित देखा जाता है कि—रात्रिभोजन करना, आर्यवर्ग के लिये सर्वथा अनुचित ही है। अब, जरा वैद्यक नियमकी ओर दृष्टिपात करें। आयुर्वेदमें कहा है:—

" हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि " ॥१॥

सूर्यास्तके बाद हृदयकमल और नाभिकमल—दोनोंका संकोच होता है। और सूक्ष्म जीव भोजनमें आते हैं, अत एव रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि—" पहले 'नक्त' शब्दका अर्थ 'दिवसका आठवाँ भाग' करनेमें आया था, और यहाँ 'रात्रि'

किया गया। इसका क्या कारण ?।" इसका कारण यह है:—
शब्दों की प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है:-१ मुख्य और २ गौण।
उपर्युक्त श्लोकमें 'नक्त' शब्दका अर्थ 'रात्रि' किया गया है,
वह मुख्यरीतिसे। और जहाँ 'नक्तव्रत' की व्याख्या की गई है,
वहां 'नक्त' शब्दका अर्थ गौणरीतिसे किया है। अर्थात् जहाँ
मुख्य अर्थको बाधा आती हो, वहाँ गौणार्थ करना चाहिये। अन्यथा
परस्पर विरुद्धवाक्योंके हो जानेसे शास्त्र भी निकम्मे हो जायेंगे। देखिये
रात्रिभोजनको 'अभोजन' में ही गिना है:—

" देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा।
अपराह्णे च पितृभिः सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥१॥

सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः सदा भुक्तं कुलोद्भव!।
सर्ववेलामतिक्रम्य रात्रौ भुक्तमभोजनम् " ॥२॥

हे कुलोद्भव! हे युधिष्ठिर! हमेशा सभी जीव अपनी अपनी
मर्यादाके अनुसार भोजन करते हैं। जैसे, दिवसके पूर्व भागमें देव,
मध्याह्नमें ऋषि, मध्याह्नोत्तरमें पितृलोक, सायंकालमें दैत्य-दानव
और संध्या के समय यक्ष-राक्षस भोजन करते हैं। अतः इन सभी
समयोंको छोडकरके 'रात्रिभोजन' सर्वथा 'अभोजन' ही है।

इस प्रकारके सुस्पष्ट प्रमाणोंके होनेपर 'नक्तव्रत' की व्याख्याके
समय गौणार्थकी खास आवश्यकता रही हुई है। अगर ऐसा अर्थ न
किया जाय, तो यहाँ रात्रिभोजनको 'अभोजन' कैसे कहनेमें
आया?। इसका क्या बचाव हो सकता है?। अत एव समझना
चाहिये कि-'प्रकरणाधीनोऽर्थः' शब्दोंके अर्थ भी प्रकरण के
अनुसार ही हुआ करते हैं। एक जगह ऐसा भी कहा है:—

" नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः " ॥१॥

रात्रिके समयमें आहुति, स्नान, श्राद्ध, देवपूजन एवं दान नहीं करने चाहिये । इनमें भी भोजन तो खास करके नहीं करना चाहिये ।

रात्रिभोजन नहीं करने के लिये स्पष्ट प्रमाण होनेपर भी खेदका विषय है कि—बहुतसे रसनेन्द्रिय के लोलुपी मनुष्य, निर्माल्य वचनोंको आगे धरके रात्रिभोजन करनेमें जरासा भी संकोच नहीं करते । इतना ही नहीं, अन्य भोले लोगोंको भी अपनी जमातमें मिला लेते हैं । ऐसे रात्रिभोजनमें आनंद माननेवाले महानुभावोंको विचार करना चाहिये कि, रात्रिभोजनसे कैसी कैसी आफतें उठानी पड़ती हैं ? । रात्रिभोजन करनेवालों को इसका तो ख्याल ही नहीं रहता कि—भोजनमें किस किस प्रकारके जीव आ पड़ते हैं, और उन जीवोंके पेटमें जानेसे कैसे कैसे रोग उत्पन्न होते हैं ? इसके लिये योगशास्त्रमें कहा है:—

" मेधां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्तिं कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥१॥

कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्णिपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥२॥

विलग्नश्च गले वालः स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशिभोजने " ॥३॥

भोजनमें चींटीके आनेसे बुद्धिका नाश, जूसे जलोदर, मक्खीसे वमन, मकड़ीसे कुष्ठरोग और लकड़ीके टुकडेसे गलेमें व्यथा होती है । इसी तरह शाकादिमें बिछूके आनेसे, वह तालूको तोड़कर प्राणका नाश करता है, एवं गलेमें बालके आजानेसे स्वरका भंग होता है । इत्यादि

अनेकों प्रकार के भय रात्रिभोजन करनेवाले मनुष्यों के शिरपर रहे हुए हैं।

उपर्युक्त सब दोषोंको ध्यानमें रखकरके शरीरको निरोगी बनानेके अभिलाषुक मनुष्योंने रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये। यहांपर हमें जैनेतरोंकी अपेक्षा उन नामधारी जैनोंपर विशेष भावदया उत्पन्न होती है, जो रात्रिभोजन करते हैं। इनमेंसे कई प्रमादसे रात्रिभोजन करते हैं। कितने पराधीनतासे और कुछ लोग रसनेन्द्रियकी लालचसे ही रात्रिभोजन करते हैं। इन तीनों कारणोंमें पहलेके दो कारणोंसे रात्रिभोजन करनेवाले, उपदेशद्वारा मुक्त हो सकते हैं। परन्तु लक्ष्मीके मदमें अन्ध होकर रसनेन्द्रियके विषयाभिलाषुक अघटित स्वतंत्रतामें आसक्त बनकर वार्तामानिक केलवणीका दुरुपयोग करनेवाले जो श्रावक-पुत्र रात्रिभोजन कर रहे हैं, उनपर उपदेशका असर हो सकेगा या नहीं? यह एक शंकास्पद बात है।

मैंने एक दफे प्रत्यक्ष देखा है कि, मैंने जिस मकानमें स्थिरता की थी, उसी मकानमें चार जैन सद्गृहस्थ आ करके ठहरेथे। चतुर्दशीका दिन था। रात्रिके नव बजे थे। मैं अकस्मात् उनके कमरेमें जा चढ़ा। क्या देखता हूँ! । अंधेरेमें बैठकर चारों गृहस्थ खूब गरमा-गरम दूध पी रहे हैं। न था चतुर्दशीका ख्याल और न था उसमें जीवोंके गिरनेका भय। मैंने जब दो वचन कहे, तब कहने लगे–'क्या करें महाराज!' "हा; देव! ऐसे रसनेन्द्रियमें आसक्त जीवोंसे क्या वीर-शासनका विजय होगा?" बस, मेरे मनमें तो उस समय यही विचार आया। मैं जब बम्बईमें रहनेवाले श्रावकोंकी इस विषयकी स्थिति सुनता हूं, तब सचमुच असंतोषके सिवाय और कुछ नहीं उपस्थित होता। ऐसे प्रसंगोंमें तो एकही वीररत्न दानवीर मर्हूम सेठ वीरचंद्र दीपचंद याद आते हैं, कि–जिनके सिरपर असाधारण कार्योंका बोझा

होने और जिनको बड़े बड़े लोगोंका रातदिन समागम रहनेपर उन्होंने अपनी बाल्यावस्थाके अमुक वर्षोंको छोड करके शेष जिंदगीमें कभी रात्रिभोजन किया ही नहीं था।

जहांतक मुझे याद है, एक दफे सरकारी रीपोर्टमें ऐसा प्रकाशित हुआ था कि, अन्य शहेरोंकी अपेक्षा अहमदावादमें शराबके पीनेवाले अधिक मनुष्य हैं। इसमें भी जैनोंकी संख्या अधिक। खेदका विषय है कि, जो नगरी एक 'जैनपुरी' गिनी जाती हो, और जहां जैनमुनियोंकी स्थिति हमेशा के लिये ज्यादा रहती ही हो, वहां के जैनोंके लिये ऐसे ऐसे वचन प्रकट हों, यह कम थोड़ी शरमकी बात है? यह किसका परिणाम है? । एक ही रसनेन्द्रियके विषयोंकी लोलुपताका। यदि रसनेन्द्रियके विषयोंकी लोलुपता कम होती, तो जैन जैसी उत्तम जातिमें भी ऐसा दुराचार कभी प्रवेश न करता। यहाँ मुझे एक छोटासा दृष्टान्त याद आता है:—

एक भील एक बड़े जंगलमें शीत, गरमी, झंझावात वगैरह अनेक कष्टोंसे व्याप्त और चारों पुरुषार्थोंसे रहित पशुकी तरह आहार और विषयादिके सेवन करनेमें जीवन व्यतीत कर रहा था। एक दिन बड़े कष्टसे उसको द्रव्यप्राप्ति हुई। इस द्रव्यसे वह मदिरा और मांस लाया और ज्यों ही एक वृक्षके नीचे बैठ करके खाने लगा, त्योंही एक अजगर उसको गलने लगा। जब आधा गल चुका, तब आकाशमें जाते हुए एक विद्याधरने उसको देखा। देखतेही उसके हृदयमें करुणा उत्पन्न हुई। अतः उसने नीचे आकर इस भीलको अजगरके मुखसे बाहर निकाल बचा लिया। इस भयंकर अवस्थामें भी वह, विद्याधरको कहने लगा:—'हे सत्पुरुष! यहाँसे थोड़ी दूर मदिरा और मांस पड़े हैं, वे मुझको ला दीजिये, जिनको खाकर सुखानुभव करूं।' इस प्रकार बोलते ही वह मृत्यु के मुखमें जा पड़ा। और नरकवासी हुआ।

इधर विद्याधर उसकी रसनेन्द्रियकी लोलुपताको देखकर विचार करने लगा:—' अहो ! रसनेन्द्रिय ! क्या तूने किसीकोभी छोड़ा है? । रंक या राय, सेठ या नोकर, स्त्री या पुरुष, और वृद्ध या बालक—कोई भी हो, सभीको तूने अपना दास बनाया है । ओर बड़े बड़े मुनिवर भी रसनेन्द्रियसे पराजत होकर दुर्गतिगामी बने हैं । रसनेन्द्रियसे अधीन मनुष्य, फिर चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, आत्म कल्याण करनेमें भाग्यशाली कभी नहीं बन सकता । क्योंकि—जहाँ रसनेन्द्रियके विषयकी लोलुपता होती है, वहाँ झूठ, दंभ और पक्षपातादि अनेक दुर्गुण आकर खड़े हो जाते हैं । ऐसे त्यागी साधु, कि जिन्होंने पांच महाव्रत लिये हैं, जिन्होंने समस्त कुटुंबादिका त्याग किया है, और जिनके पास गांव, मकान, क्षेत्र एवं धन—धान्यादि कोई भी वस्तु है नहीं, उनको भी रसनेन्द्रिय, झूठका दुर्गुण सिखाती है । जैसे, कोई साधु गोचरी गया, उसकी इच्छा अमुक घर जानेकी है । परन्तु रास्तेमें कोई भाविक और गरीब श्रावक मिल गया, उसने विनति की कि, ' महाराज ! पधारिये, और लाभ दीजिये ' । तब वह रसनेन्द्रियसे आधीन होकर कहता है:—' मुझको खप (जरूरत) नहीं है । ' कहिये इसका नाम मृषावाद है या नहीं ? । और भी देखिये । किसी गृहस्थने मुनिको देनेके लिये चार लड्डु उठाये । मुनिकी इच्छा चारों लड्डु लेनेकी है । परन्तु उपरी दिखावसे साधु कहते हैं:—' ना ' ' ना ' ' हमको आवश्यकता नहीं है ' और पात्र तो आगे बढ़ाते जा रहे हैं । और मनमें भी यही चाहते हैं कि—चारों लड्डु पात्रमें रख दे, तो अच्छा । बतलाईये, इसको सिवाय दंभताके और क्या कह सकते हैं ।

अब पक्षपातका दूषण भी स्पष्ट ही मालूम हो सकता है । जिस गृहस्थके घरसे आहार, पानी, पुस्तक, पात्र ओर औषधादि इच्छानुसार मिलते हों, उस गृहस्थके विद्यमान दूषणोंको छिपाकर अविद्यमान

गुणोंकी उद्घोषणा की जाय, और जो गृहस्थ नीतियुक्त व्यापार, एवं सामायिक, पौषध एवं देवपूजादि धर्मकृत्य करता हो, उसके साथ साधुजी बात तक न करें, यहाँ तक कि—वह गृहस्थ यदि सामायिक पौषध करनेको उपाश्रयमें आवे, तो अन्य छोटे साधुके पास भेज दिया जाय, और यदि वह—पात्र भरदेनेवाला सेठ आजाय, तब तो महाराज बड़े खुशी हो करके ' पधारिये ! पधारिये सेठ ! ! ' इत्यादि शब्दोंसे खुशामद करें, फिर सेठजी की खुशामद करनेमें आहार—पानीका और पठन—पाठनका समय व्यर्थ व्यतीत हो जाय, तो भी महाराजको इसकी क्या परवाह ! तपस्वी ग्लान और बाल साधु, गुरुके सिवाय भूखे बैठे रहें, तो भी गुरुजीको क्या फिकर ! ! गुरुजी तो सेठके साथ बातें ठोकनेमें ही लगे रहें । और जब सेठ जाँय, तब ही बिचारे भूखे प्यासे साधु आहार—पानी कर सकें । इसका नाम पक्षपात या और कुछ ? ।

समझना आवश्यक है कि—दशवैकालिकसूत्रमें ' मुधादाई ', ' मुधाजीवी '—इन दोनोंकी प्रशंसा की है । और दोनोंको स्वर्गगामी दिखलाए हैं । परन्तु रसनेन्द्रियके विषयोंमें लंपट और कीर्त्ति वगैरहके भूखेकी दुर्गति होती है । अत एव पूर्वोक्त समस्त दोष रसनेन्द्रियसे उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानकर रसनेन्द्रियके अधीन न होते हुए रसनेन्द्रियको अपने स्वाधीन करनेके लिये, समस्त मोक्षाभिलाषियोंको प्रयत्न करना चाहिये ।

घ्राणेन्द्रिय.

अब घ्राणेन्द्रियके विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको देखें ।

" नानातरुप्रसवसौरभवासिताङ्गो
घ्राणेन्द्रियेन मधुपो यमराजधिष्ण्यम् ।
गच्छत्यशुद्धमतिरत्र गतो विशक्ति
गन्धेषु पद्मसदनं समवाप्य दीनः " ॥१॥

भिन्न भिन्न जातिके वृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले मकरंदसे सुगन्धित शरीरवाला, एवं दीन और अशुद्धमतिवाला भ्रमर, कमलरूपी घरको प्राप्त करके घ्राणेन्द्रियकी लोलुपतासे यमराजका अतिथि होता है।

यद्यपि, जगत्में जिन जिन प्राणियोंको नाक है, वे सभी प्रायः उसके विषयोंके अधीन बने हुए हैं। तथापि, सिर्फ भ्रमरके ही दृष्टान्तको देखिये। इसीसे मालूम होगा कि, घ्राणेन्द्रियके विषयोंकी लोलुपतासे कैसा खराब परिणाम आता है ?।

भ्रमरको हैं तो चार इन्द्रियां; परन्तु उनमें उसको घ्राणेन्द्रियका विषय अधिक होता है। ज्योंही पुष्पका मकरंद अथवा अन्य कोई सुगंधित वस्तुकी गंध उसको आती है, त्योंही वह उसके पास जाता है। इसी नियमानुसार सूर्य विकाशिक कमलवनमें भी वह जाता है। वहाँ कमलपर बैठकर सुगन्ध लेनेमें ऐसा लीन हो जाता है कि, सूर्यास्तके समयको भी वह नहीं जानता। धीरे धीरे सूर्यास्तके समय कमल बन्द हो जाता है। और कमलके बन्द हो जानेसे वह भ्रमर उसके अन्दर ही रहजाता है। रात्रिके समयमें वह अन्दर पड़ा पड़ा विचार करता है:—' अभी प्रातःकाल होगा और मैं बाहर निकल जाऊंगा।' परन्तु, सूर्योदय होनेके पहले ही वह अन्दरका अन्दर स्वाहा हो जाता है। अथवा ऐसा भी कभी बन जाता है कि—वनहस्ति वहाँ आता है। और उस कमलके वृक्षको यकायक अपनी सूंढसे उठाकर खा जाता है। अतः भ्रमरभी उस वृक्षके साथ ही हाथीका भक्ष्य बनजाता है। और भ्रमरकी सभी आशाओं पर निराशाकी कुल्हाड़ी गिरती है।

इसी तरह बहुतसे राजकुमार और शौकीन जीव, पुष्पादिके सुगन्धका पूर्ण आस्वाद लेनेमें बहुत ही आसक्त रहते हैं। उन लोगोंको

भी किसी समय भ्रमरकी सी अवस्थाका अनुभव करना पड़ता है। अर्थात् जैसी भ्रमरकी दुर्दशा होती है, वैसी उनकी भी। सुगन्धित वस्तुओंमें जीवोंका उपद्रव रहा करता है। जैसे पुष्पादिमें तम्बोलिये सर्प रहते हैं। उसके काटनेसे मनुष्यकी मृत्यु ही होती है। यह बात शास्त्रोंमें ही नहीं लिखी, परन्तु बहुत दफे ऐसे प्रसंग देखने, सुनने और पढ़नेमें भी आए हैं। घ्राणेन्द्रियाधीन पुरुषको संपूर्ण रागवान् भी गिननेमें आता है और रागके साथ द्वेष तो अव्यभिचरितपनेसे रहता ही है, इस राग–द्वेष के मित्र--काम, क्रोध और लोभादि तो साथमें ही रहते हैं। जहाँ यह सब सामग्री मिल जाय, वहाँ मनुष्यका कल्याण किसी भी कालमें हो सकता है?। कभी नहीं। अतः एव बुद्धिमान पुरुषोंने, इन सभी दूषणोंके कारणभूत घ्राणेन्द्रियके विषयोंमें लुब्ध न होकर घ्राणेन्द्रियको अपने स्वाधीन बना रखना चाहिये।

चक्षुरिन्द्रिय

" सज्जातिपुष्पकलिकेयमितीव मत्वा
दीपार्चिषं हतमतिः शलभः पतित्वा।
रूपावलोकनमना रमणीयरूपे
मुग्धोऽवलोकनवशेन यमास्यमेति " ॥१॥

दीपककी ज्योतिको, 'सुंदर जातिके पुष्पोंकी यह कली है' ऐसा समझकरके, मनोहरतामें मुग्ध और रूपके देखनेसे प्रसन्न रहनेवाला पतंग (इस नामका जीव) दीपककी शिखामें गिरकर मृत्युको पाता है।

पतंग नामका प्राणी चक्षुरिन्द्रियाधीन होकर अपने प्राणोंको अग्निमें भस्मीभूत कर देता है। 'पतंग' चार इंद्रियोंवाला प्राणी है।

वह रात्रिमें दीपककी ज्योतिको देखकर, मन नहीं है, तथापि; लोभकी प्रवलतासे मोहित होकर के अग्निमें झंपापात करता है। उसमें असह्य वेदनाओंका अनुभव करके अपने जन्मको समाप्त कर देता है। इसी तरह जगत्के और भी प्राणी चक्षुरिन्द्रियके वश होकर अपना सर्वस्व खो देते हैं। बहुतसे अज्ञानी जीव परद्रव्य और परस्त्रीपर खराब दृष्टि करके व्यर्थ नरक योग्य कर्मोंको उपार्जन करते हैं। दृष्टान्त देखिये—

कल्पना कीजिये कि—बाजारमें किसी स्थानमें पांच सात युवक बैठे हुए हैं। उस समय एक तरुण वयवाली सुंदरी, सुंदर वस्त्रोंसे सुसज्जित होकर चली आ रही है। अभीतक इन युवकोंके लक्ष्यमें युवतीका न रूप—लावण्य आया है, और न वे उसके कुल, जाति, नाम और ठाम—ठिकाने हीको जानते हैं। इतनेमें तो अनादि कालकी प्रवृत्ति और अज्ञानताने इन युवकोंमें असभ्य वार्त्ता प्रारंभ करादी, व धीरे धीरे शब्द रचनामें आगे ही बढ़ते गये। उनकी शब्द रचनाका यहाँ उल्लेख करना निरुपयोगी है। सिर्फ इतनाही दिखलाना आवश्यक है कि, उन लोगोंको किसी भी प्रकारका अर्थ—स्वार्थ नहीं होने पर भी वे कैसे दंडके भागी बनते हैं?।

दृष्टिके खराब करनेसे सर्पकी तरह परमर्मके भेदमात्रसे बहुत कर्म उपार्जन करते हैं। जैसे, सर्प मनुष्यको काटता है, उससे उसका पेट नहीं भरता, तथापि अन्यका प्राण लेता है, इसी तरह परस्त्रीके रूपको देखनेवाला—तद्विषयक बुरे विचारोंको करनेवाला और असभ्य शब्दोंको बोलनेवाला स्त्री और स्त्रीके संबन्धियोंके हृदयोंमें दुःख पहुँचाता है। उसके हाथमें कुविकल्पों के सिवाय और कुछ नहीं आता। यह दोष चक्षुरिन्द्रियके विषयसे ही होता है। चक्षुरिन्द्रियका यह विषय, गृहस्थोंको क्या, त्यागी—महात्माओंको भी किस तरह नीचे गिरा देता है? इसके विषयमें निम्न लिखित दृष्टान्त ही पर्याप्त है।

" एक सेठके मकानके समीप ही एक बावा धूनी लगाकर बैठा था। वह ब्रह्मचर्यमें पूर्ण था। सेठकी उसपर बहुत भक्ति थी। एक दफे उस सेठकी स्त्रीका मुख–लावण्य बावाजीके देखनेमें आया। बावाजी यकायक उसके मुखलावण्यको देखते ही ऐसा कामान्ध हो गया, कि–वह अपने समस्त कर्त्तव्योंको भूलकर आर्त्तध्यानमें मग्न हो गया। स्त्रीके सिवाय उसके विचारमें और कोई बात ही नहीं आती थी। स्वाभाविकरीत्या ऐसा नियम है कि–जिस मनुष्यका जिस वस्तुमें ध्यान लग जाता है, वह उसी वस्तुकी ओर ताकता रहता है। बावाजीकी भी ऐसी ही स्थिति हुई। बावाजी, दिन ओर रात उस सेठके मकानकी ओर ही ध्यान लगाकर रहने लगे। 'अभी बाहर निकलेगी' 'अभी खिड़कीसे मूँह निकालेगी;' येही विचार बावाजीके हृदयसागरमें उछलने लगे। दिन प्रतिदिन बावाजीका शरीर इसी चिंतासे सूखने लगा। सेठने विचार किया, कि–आजकल बावाजी कृश क्यों होते जा रहे हैं?। एक दफे सेठने भक्तिपूर्वक पूछाः— 'महाराज! आपको ऐसी क्या चिंता पड़ी है कि, जिससे आपका चित्त उदास और शरीर कृश हो रहा है?। आपके अन्तःकरणमें जो बात हो, सो कह दीजिये। जहाँ तक हो सकेगा, मैं आपकी चिन्ता दूर करूंगा" बावाजीने कहाः–क्या करूं? तेरी स्त्रीके रूप–लावण्यने मेरे मनको पराधीन बना दिया है। अब मैं तेरी स्त्रीके सिवाय और कुछ भी नहीं देखता।' सेठ समझ गया। वह वहाँसे उठ अपने घर गया। और स्त्रीसे बावाजीका सब हाल कहा। और यह भी कहाः—"यद्यपि तू पतिव्रता और सुशीला है, इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तथापि जब मैं बावाजीको वचन देकर आया हूँ, तब तुझे उसका मन शान्त करना ही पड़ेगा।' स्त्रीने पतिके विचारमें सहमत होकर कहाः–' आप जाईये, और बावाजीको भेजिये।' सेठ

बावाजीके पास गया, और उनसे कहने लगाः—' आप मेरे घर पर जाईये, मैं किसी कार्यके लिये बाहर जा रहा हूँ।' बावाजी मोहान्ध दशामें प्रसन्न होकर सेठ के वहाँ गये। स्त्रीने बावाजीको सम्मानपूर्वक एक पलंगपर बैठाये। और कहाः—' महाराज! आप बैठिये, मैं अपने पतिकी आज्ञानुसार शृंगार सज धजकर आती हूँ।' स्त्री शृंगार सजने गई। इतनेमें शुभोदयके कारण बावाजीकी विचारश्रेणि बदल गईः—' अहो! पतिव्रता और सुशीला होनेपर भी यह स्त्री, अपने पतिकी आज्ञासे मेरे जैसे जटाजूट जोगीके साथ ऐसा कार्य करनेमें जरा भी शंका नहीं करती। अपने स्वामीकी आज्ञाके पालनही को धर्म समझती है। और मैं योगी, जितेन्द्रिय, ईश्वरभक्त और जगत्के प्राणियोंको उपदेश देनेवाला होनेपर भी मैं अपने स्वामीकी आज्ञाका खून करनेके लिये तय्यार हो रहा हूँ। और अपने अपूर्व योगको अग्निमें जला देनेके लिये यहाँ आया हूं! हाय! मेरे जैसा, इस दुनियामें अधम, नीच, दुष्ट, दुराचारी और कोई मनुष्य होगा? धिक् मां धिक्! धिक्कार है मुझको, कि, मैं अन्ध हो करके ऐसे दुष्कृत्यमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। लेकिन—हे आत्मन्! इस दुराचारमें प्रवृत्ति किसने कराई?। दुष्ट चक्षुरिन्द्रियने!'

ऐसे विचार करते हुए बावाजीके शरीरमें क्रोध देवता प्रदीप्त हुआ। इधर उधर देखनेपर दूसरा कुछ भी न मिला, तब चरखेमें लगानेकी लोहेकी सली उसके देखनेमें आई। बस, झटसे उसको उठाकर अपने दोनों नेत्रोंमें घुसेडकर आंखें फोड़ डालीं। ज्योंही खूनकी धारा बहने लगी, त्योंही वह स्त्री आ पहुँची, और बावाजीको चक्षुरहित देखे। बावाजीसे कहने लगीः—' महाराज! यह क्या हुआ?।' बावाजी बोलेः—'लड़की! जिसने मुझको पराधीन बनाया था, उसकोही मैंने शिक्षा देदी। अब मैं जगतकी समस्त स्त्रियोंको अपनी माता, बहन और पुत्रियां समझता हूँ।' ऐसी बातें हो रही थी, इतनेमें वह

भक्त सेठ आ पहुँचा। उसको, इस वृत्तान्तसे बहुत आश्चर्य हुआ। पश्चात् धीरे धीरे बाबाजीको उनके स्थानपर ले गया।"

इस दृष्टान्तसे पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं कि—जो चक्षुरिन्द्रियके विषय, इस प्रकारके अनर्थ करते हैं, उसी चक्षुरिन्द्रियको यदि ज्ञानपूर्वक अच्छे कार्योंमें लगाया जाय, तो कितना लाभ हो सकता है ?।

श्रीमहावीरदेवके शासनमें अनशन करनेवाले मेघकुमारादि मुनियोंने शरीरको त्याग करनेके समयभी नेत्रोंकी छूट रक्खी थी। क्योंकि, नेत्रके सिवाय जीवदया नहीं पल सकती। जीवदया के लिये ही समस्त प्रकारके व्रत नियम पाले जाते हैं। इस बातको समस्त बुद्धिमान् स्वीकार करते ही हैं। नेत्रहीसे देवाधिदेवकी शान्तमुद्राके दर्शन होते हैं। रावण, आर्द्रकुमार और रणधीरकुमार जैसे महानुभावोंने नेत्रोंके द्वारा ही पुण्योपार्जन किया था। वर्त्तमान कालमें भी नेत्रोंसे ही जिनराजकी मूर्त्तिको देखकरके मनुष्य अत्यन्त लाभ उठाते हैं। नेत्रोंका माहात्म्य कहाँ तक दिखलाया जाय ? नेत्रविहीन पुरुषसे जैसे दर्शन और जीवदयादि कार्य नहीं हो सकते, वैसे नेत्रविहीन पुरुषमें लज्जा भी कम ही होती है। एक गुजराती कवि भी कहता है:—

" सोए फूलुं हजारे काणुं, तेथी भूंडुं नीचुं ठाणुं;
जो पडे अंधाथी काम, (तो) लज्जा राखे सीताराम ॥१॥"

अत एव नेत्र तो बड़े ही काम की चीज है। परन्तु उसका दुरुपयोग नहीं करने के लिये प्रतिक्षण सचेत रहना चाहिये। जो मनुष्य चक्षुरिन्द्रियका दुरुपयोग करते हैं; उनको भवान्तरमें अन्धत्व प्राप्त होता है। अत एव चक्षुरिन्द्रियके सदुपयोग करनेके लिये प्रत्येक आत्मकल्याणाभिलाषी मनुष्योंने ध्यान रखना चाहिये।

श्रवणेन्द्रिय

" दूर्वाङ्कुराशनसमृद्धवपुः कुरङ्गः
क्रीडन्वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः ।
अत्यन्तगेयरवदत्तमना वराकः
श्रोत्रेन्द्रियेन समवर्त्तिमुखं प्रयाति " ॥ १ ॥

दूर्वा के अंकुरोंसे शरीरको पुष्ट करनेवाला, अभिनव विलासों से हरिणी के साथ वनमें खेलनेवाला और अत्यन्त गानमें दत्तचित्त रहनेवाला विचारा हरिण, श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें लुब्ध होकरके यमराजके मुखमें प्रवेश करता है।

एक ही श्रवणेन्द्रियका विषय हरिण की हत्या कराता है। हरिण स्वभावसे ही गायकके गान पर आसक्त रहता है। शिकारी जब शिकार खेलने को आता है, तब जंगलमें जाकर मधुर स्वरसे गीत गाता है। उसको श्रवण करने में हरिण चित्रवत् स्थिर हो जाता है। उसके स्थिर हो जानेपर शिकारी गोली या बाणसे उसका संहार कर देता है। श्रवणेन्द्रियके विषयोंकी प्रबलता बहुत है। मनुष्य चाहे जैसे कार्यमें प्रवृत्त क्यों न हो, प्रभुभक्तिमें ही लीन क्यों न हो, अथवा गुरु के उपदेशको श्रवण करनेमें एकचित्त ही क्यों न हुआ हो; परन्तु जरासा स्त्रीके पाँऊं के झांझरकी आवाज सुनते ही उसका चित्त अस्थिर हो जाता है और जहाँ चित्तवृत्ति अस्थिर हुई, वहाँ फिर उसके नेत्र अनायास ही चटपट करने लग जाते हैं। यह तो क्या? दो मनुष्य प्राईवेटमें बातें कर रहे हों, तो उसको सुननेके लिये वहाँ बैठे हुए तीसरे मनुष्यको तीव्रता हो जाती है। यह भी श्रवणेन्द्रियके विषयकाही प्रताप है। इतनाही क्यों? अगर उससे कुछ न सुना जाय, तो वह उन दोनोंसे

पूछता है–'भाई क्या बात है?' श्रवणेन्द्रियके विषयका कितना जोर? इसी कारणसे तो ध्यान करनेवाले योगी जंगल या पर्वतकी गुफाओंको विशेष पसंद करते हैं। क्योंकि वहाँ जनता के अभावसे शब्द कम सुननेमें आता है। योगीलोग भी श्रवणेन्द्रियके विषयोंको रोक नहीं सकते। श्रवणेन्द्रियके विषयकी चपलता बहुत होती है। इस इन्द्रियको वश करनेका कार्य बहुत दुर्घट है। श्रवणेन्द्रियका विषय है शब्द। यह शब्द गानरूपसे बाहर आता है, तब तो वह, योगी, भोगी, रोगी, शोकी और संतापी–समस्त जीवोंको सुखरूप मालूम होता है अर्थात् जोगी जोगको भूल जाता है। भोगी विशेष कामी होता है। रोगी क्षणभरके लिये आनंद पाता है। शोकी वियोगजन्य दुःखको भूल जाता है और संतापी आधि, व्याधि, उपाधिको एक स्थानमें रखकर श्रवणेन्द्रियका विषयका आस्वाद लेनेके लिये आसक्त बन जाता है। अहो! यह श्रवणेन्द्रियका विषय दूसरी इन्द्रियोंके विषयोंसे कोई औरही प्रकारका है! बस, इस विषयको जीतनेवाला सच्चा धीर, वीर और गंभीर है। इसमें जरा भी संदेहकी बात नहीं है?

यहाँ तक तो एक एक इन्द्रियके विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले कष्टोंका दिग्दर्शन कराया गया। अब पांचों इन्द्रियोंके तेईस विषयोंसे दूर रहनेके लिये कुछ उपदेश लिखना समुचित समझा जाता है। एक सुभाषितकार कहते हैं:—

> " एकैकमक्षविषयं भजताममीषां
> सम्पद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम्।
> पञ्चाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्य-
> मक्षार्थमित्यमलधीरधियस्त्यजन्ति " ॥ १ ॥

एक एक इन्द्रियके विषयोंके सेवन करनेवाले हाथी, मत्स्य, भ्रमर,

पतंग और हरिण मृत्युके शरण होते हैं। तब फिर पांचों इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्त रहनेवाला पुरुष, यमराजका अतिथि हो, इसमें कहना ही क्या ?। अतः उपर्युक्त दुःखोंको विचार करके ही निर्मल और धीर बुद्धिवाले पुरुष, इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़ देते हैं। और उनको त्याग करनेवाला पुरुष ही प्रशंसा के पात्र ह। जैसे—

सु चिय सूरो सो चेव पंडिओ तं पसंसिमो निचं।
इंदियचोरेहिं सया न लुंटिअं जस्स चरणधणं ॥ १ ॥

सच्चा शूरवीर वही पुरुष है कि—जो कामके अधीन न हो कर, स्त्रीके लोचनरूप बाणोंसे छेदित नहीं होता है। सच्चा पंडित वही है, जो स्त्रीके अगम्य—गहन चरित्रों से खंडित नहीं हुआ है। और सच्चा प्रशंसापात्र पुरुष वही है, जो संसारमें रह करके इन्द्रियों की विषय-जालमें नहीं फसकर अखंडित रहा है। इतना ही नहीं, परन्तु जिसने अपने चरित्ररत्नको, इन्द्रियोंरूपी पांच प्रबल चोरोंसे भी बचा रक्खा है। लौकिकशास्त्रकार भी कहते हैं:—

" स पण्डितो यः करणैरखण्डितः
स तापसो यः परतापहारकः।
स धार्मिको यः परमर्म न स्पृशेत्
स दीक्षितो यः सदयेक्षते सदा " ॥ १ ॥

पंडित वही हैं, जो इन्द्रियों करके अखण्डित है। तापसमुनि वही है जो अन्यके तापोंको—दुःखोंको दूर करता है। धार्मिक वही है, जो दूसरोंके मर्म्मोंका उद्घाटन नहीं करता और दीक्षित अर्थात् त्यागी वही है, जो हमेशा अच्छी ही दृष्टि रखता है।

सचमुच इन्द्रियोंरूपी चपल घोडे अवश्य मनुष्य को दुर्गतिरूप उन्मार्गमें ले जाते हैं। देखिये, हिन्दुधर्मशास्त्रानुसार जगत्में पूज्यताको धारण करनेवाले हरि, हर और ब्रह्मा वगैरह कैसे पराधीन हुए हैं ?। हरि, लक्ष्मीके अधीन बने हैं। हर, पार्वती के पाशमें पडे हैं। और ब्रह्माजीने सावित्रीका साथ किया है। निदान, लक्ष्मी, पार्वती और सावित्रीने जो जो कार्य दिखलाए, वे हरि, हर और ब्रह्माको करने पडे हैं। जब उनका यह हाल हुआ, तब फिर औरोंकी तो बात ही क्या कहनी ? इन्द्रियोंरूप अश्वोंको उन्मार्गमें नहीं जाने देनेके लिये तीर्थंकरोंने स्वयं प्रयत्नशील होकरके मनुष्योंके हाथमें सदुपदेश रूप दोरी देदी। और कहाः—" इन वचनोंको तुमलोग हमेशा स्मरणमें रक्खोगे, तो तुम्हारी इन्द्रियां कदापि उन्मत्त नहीं होंगी।" स्मरणमें रखना चाहिये कि—इन्द्रियोंरूप चपल घोडे, वैराग्यरूपी रस्सीके सिवाय कभी सन्मार्गमें आनेवाले नहीं। और इसी लिये तीर्थंकर के उपदेशमें—प्रतिसूत्रमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी रक्षा करनेवाला **वैराग्यरस** भरा है। उसको याद रखनेसे इन्द्रियरूपी उन्मत्त घोडे कभी उन्मार्गमें नहीं जा सकते।

यहाँ जरा यह शंका उद्भव हो सकती है कि—" कितनेक मनुष्य जिनवचनको जानते हैं, तथापि विषयासक्त देखनेमें आते हैं, इसका क्या कारण ?।" इसका समाधान यही है कि—" ऐसे भवाभिनंदी मनुष्योंने जिनवचनको परके लिये ही जाने हैं, अपने लिये नहीं। अगर अपने लिये जाने होते, तो वे कदापि विषयासक्त नहीं होते।" जिन्होंने भवस्वरूपको सम्यग्रीत्या जान लिया है, वे तो विषयको विष ही समझते हैं। और ऐसा समझ करके इन्द्रियोंको जरा भी स्वतंत्रता नहीं होने देते। अगर इन्द्रियोंको स्वतंत्रता दे दी जाय, तो वे क्रोडों वर्षोंतक विषयकी जालसे नहीं छूट सकते। कहा हैः—

" इंदियधुत्ताणमहो ! तिलतुसमित्तंपि देसु मा पसरं ।
जइ दिन्नो तो नीओ जत्थ खणो वरसकोडिसमो" ॥१॥

हे भव्य ! इन्द्रियरूपी धूर्त्त को तिलतुस मात्र भी अवकाश न दे । यदि अवकाश देगा, तो वह, जहाँ एक क्षण एक क्रोड़ वर्ष जितना है, ऐसी नरकगतिमें तुझको ले जायगा ।

अत एव विषयको विषतुल्य समझ करके उसका स्पर्शमात्र भी नहीं करना चाहिये । इतना ही नहीं, परन्तु विश्वास तक नहीं करना ।

इन्द्रियोंको वशमें रखना, यह साधु या गृहस्थ—समस्त आत्मकल्याणाभिलाषी पुरुषोंका कर्त्तव्य है । इन्द्रियोंको वश करनेके सिद्धान्तमें, किसीभी दर्शनकार या धर्मानुयायी का मतभेद नहीं है । मनुजी भी मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायमें कहते हैं:—

" इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् " ॥ ९९ ॥

जैसे सारथी, रथके घोडोंको अपने स्वाधीन रखता है, वैसे ही विद्वान् पुरुषने, अपने अपने विषयोंमें दौड़नेवाली इंद्रियोंको यत्नपूर्वक अपने वशमें रखनी चाहियें। ८८। इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेसे मनुष्य निःसंदेह दूषित होता है। परन्तु उनको स्वाधीन रखनेसे ही सिद्धि होती है। ९३। विषयोंके भोगनेसे कामकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत, जैसे घीकी आहुतिसे अग्नि विशेष प्रज्वलित होता है, वैसे कामकी वृद्धि ही होती है.। ९४। जो मनुष्य सर्व भोगोंको प्राप्त करता है, और जो सर्व भोगोंका त्याग करता है, इनमें त्याग करनेवाला मनुष्य ही श्रेष्ठ है। ९५। वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तपस्या इन्होंमेंसे, दुष्टाशय विषयी मनुष्यको कुछ भी सिद्ध नहीं होता। ९७। जो मनुष्य सुनने, स्पर्श करने, देखने, खाने और सूंघनेसे न प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न होता है, वही सच्चा जितेन्द्रिय है। ९८। छिद्रवाले पात्रसे जैसे पानी निकल जाता है, वैसे ही एक भी इन्द्रियके स्वतंत्र होजानेसे मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ९९।

कहनेका तात्पर्य यह है कि—किसी भी प्रकारसे इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनी चाहियें। इन्द्रियोंसे अधीन मनुष्य किसी भी प्रकारसे अपना कल्याण नहीं करसकता है। इसी लिये तत्त्ववेत्ता कहते हैं:—

" भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम्।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा-
दयं जन्तुर्यस्मात् पदमपि न गन्तुं प्रभवति " ॥१॥

हे भव्य! इस भवरूपी अरण्यको छोड़ करके यदि तेरी मुक्तिनगरीमें जानेकी इच्छा है, तो विषयरूपी विषवृक्षकी छायामें कभी नहीं ठहरना।

क्योंकि, उस वृक्षकी छाया थोड़े ही कालमें महामोह को फैलाती है। जिससे मनुष्य एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।

इन्द्रियोंरूपी धूर्त्तोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। क्योंकि, उनके विश्वासमें रहनेवाला अपना सर्वस्व खो बैठता है। इसमें जरा भी शंकाकी बात नहीं है। एक और भी बात है। इन्द्रियाधीन पुरुष पूज्यपुरुषोंकी अवज्ञा करनेमें भी विचार नहीं करता और इन्द्रियाधीन पुरुष थोड़ेके लिये बहुत गुमा देता है। जैसे कहा है:—

" जह कागिणीइ हेउं कोडिं रयणाण हारए कोइ।
तह तुच्छविसयगिद्धा जीवा हारंति सिद्धिसुहं " ॥ १ ॥

जैसे कोई मनुष्य एक कांकणीके लिये कोटी रत्नोंको गुमा देता है, वैसे तुच्छ—ऐसे विषयोंमें गृद्ध होनेवाला पुरुष सिद्धिसुखको खो देता है। और भी कहा है:—

" तिलमित्तं विसयसुहं दुहं च गिरिरायसिंगतुंगयरं।
भवकोडीहिं न निट्टइ जं जाणसु तं करिज्जासु " ॥ १ ॥

विषयों में तिलमात्र सुख है, और मेरुपर्वत के उच्च शिखरोंकी उपमावाला और करोडों भवोंमें भी समाप्त न हो सके, इतना दुःख है। अत एव जैसा उचित समझो वैसा करो।

जरा विचारने योग्य बात है कि—एक कांकणी, जो एक रुपयेका अस्सीवाँ भाग है, उसके लिये करोडों रत्नोंको गुमा देनेवाला मनुष्य कैसा मूर्ख गिना जा सकता है?। इसके दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। इस तरह विषयसुखमें आसक्त मनुष्य अनुपमेय, अव्याबाध, अचल और अनंत सुखमय मुक्ति सुखको गुमा देता है। तब फिर इसको, उस मनुष्यसे भी अधिक मूर्ख गिना जाय, तो इसमें अत्युक्ति

की बात ही क्या है ? । सत्यबात तो यही है कि–विषयजन्य सुख, सुख ही नहीं है, किन्तु सुखाभास है । और वह भी क्षणभरके लिये ही । परन्तु उससे होनेवाले कर्मोका बन्ध मेरु समान दुःखों को देता है । यह बात मोहान्ध पुरुषों के ख्यालमें नहीं आती ।

विषयसेवन, ऐसी वस्तु है, कि–जिसका चाहे उतना सेवन किया जाय, परन्तु उससे मनुष्यको तृप्ति नहीं होसकती । इतना ही नहीं, बल्कि तृष्णादेवी, उस मनुष्यको सर्वथा रंक बना देती है, और घर घर भिक्षा मंगवाती है । इसके सिवाय और भी उसकी दुर्दशा देखिये–

" दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां
धर्मं धुनाति विदधाति-विनिन्द्यकर्म ।
रेफश्चिनोति कुरुतेऽतिविरूपवेषं
किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः ? " ॥ १ ॥

इन्द्रियोंके अधीन हो जानेसे मनुष्य क्या क्या नहीं करता ? । दासत्वको पाता है । नीचपुरुषों की सेवा, धर्मका नाश, और अत्यन्त निंदायुक्त कर्मोंको भी करता है । एवं पाप बांधता है । और तुच्छसे तुच्छ वेषोंको भी धारण करता है । तथापि तृष्णादेवी शान्त नहीं होती, क्यों कि, जिसको दैवीसुखों में संतोष नहीं होता, वह क्या मानुषी भोगोंसे तृप्त हो सकता है ? । अरे ! समुद्रके पानीसे जिसकी तृषा नहीं दूर हुई, उसकी तृषा डाभके अग्रभागपर रहे हुए पानीके बिंदुसे क्या दूर हो सकती है ? । शास्त्रकारोंने ठीक ही कहा है:—" भुंजंता महुरा विवागविरसा किंपागतुल्ला इमे । " भोगनेके समय मधुर और विपाकमें विरस किंपाकफलोंके समान विषय हैं । अर्थात् जैसे किंपाकके फल सुगंधीदार, नेत्रोंको आनंद देनेवाले और स्वादमें मधुर हैं, परन्तु खानेसे प्राणोंका नाश करते हैं, ऐसे ही विषय

सुख भी, पहिले तो रमणीय मालूम होते हैं, परन्तु पीछेसे अनिर्वचनीय दुःखों देते हैं। दराज (दद्रु) के स्थानमें जब खुजली आती है, तब उसके खुजलानेमें मनुष्यको आनंद होता है। परन्तु बादमें उसको बहुत ही जलन होती है, अतः पश्चात्ताप करता है। बस, इसी प्रकार विषयासक्त पुरुषको जब लौकिक और लोकोत्तर-दोनों प्रकारके दुःखोके अनुभव करनेका समय आता है, तब, उसके पश्चात्तापकी कोई सीमा नहीं रहती। किन्तु वह पश्चात्ताप किस कामका ?। अपना सर्वस्व खो डालने और कर्मोका असाधारण बोझा बढ़जानेके बाद क्या होनेका था ?। इस लिये पहलेहीसे विचार करना, यह बुद्धिमानोंका परम कर्तव्य है।

विचार करना चाहिये कि-दावानलका अग्नि पंद्रह दिनोंमें अपने आप शान्त होता है, शहरमें लगा हुआ अग्नि कूएके पानीसे शान्त होता है। परन्तु कामाग्नि पंद्रह दिन तो क्या ? पंद्रह करोड वर्षोंतक भी शान्त नहीं होता। और कूएका पानी तो क्या ? समुद्रके पानीसे भी शान्त नहीं होसकता। इसकी शान्तिके लिये तो सिर्फ जिनराज की वाणीका एक बिंदुमात्र ही पर्याप्त है। इस कामरूपीग्रह को अन्य दुष्टग्रहोंसे भी अधिक दुष्ट दिखलाया है। कहा है:—

" सव्वग्गहाणं पभवो महग्गहो सव्वदोसपायट्टी।
कामग्गहो दुरप्पा जेणभिभूअं जगं सव्वं " ॥ १ ॥

कामरूपीग्रह, समस्त ग्रहों को पैदा करनेवाला है। और समस्तदोषों को प्रकट करता है। इस महाग्रहने समस्त जगत को वश किया है।

मंगलग्रह वगैरह, यद्यपि मनुष्यकों दुःख देते हैं, परन्तु वे शान्तिकर्मोंसे शान्त हो जाते हैं। और कदाचित् न भी शान्त हों, तथापि वे इसी जन्मको बिगाड़ देनेके सिवाय विशेष नुकसान नहीं कर सकते।

अथवा तो वे अपनी स्थिति पर्यन्त ही कष्ट देते हैं। परन्तु कामग्रह मनुष्यकी ऐसी दुर्दशा करता है, जिसका वर्णन करना भी अशक्य है। कामासक्त मनुष्यकी दुर्दशाको दिखलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

"ध्यायति धावति कम्पमियर्ति श्राम्यति ताम्यति नश्यति नित्यम्।
रोदिति सीदति जल्पति दीनं गायति नृत्यति मूर्छति कामी ॥१॥
रुष्यति तुष्यति दास्यमुपैति कर्षति दीव्यति सीव्यति वस्त्रम्।
किं न करोत्यथवा हतबुद्धिः कामवशः पुरुषो जननिन्द्यम्"॥२॥

कामीपुरुष हजारों कार्योंको छोड़कर स्त्रीका ध्यान करता है। कड़ी धूपकी भी परवाह न करके उसके लिये इधर उधर दौड़ता फिरता है। कंपित होता हैं। श्रमित होता है। तपता है। नाश होता है। सेवन करता हे। खेद पाता है। और दीनतायुक्त वचन बोलता है। क्षणमें गाता है, क्षणमें नृत्य करता है। और क्षणमें मूर्छित भी होता है। क्षणमें रुष्ट होता है, क्षणमें नष्ट होता है। किंकरताको प्राप्त करता है। खेती करता है। जूआ भी खेलता है, और वस्त्रोंके सीनेका भी काम करता है। विशेष क्या कहना? वह हतबुद्धि क्या नहीं करता?। समस्त प्रकारके निंद्य कार्योंको भी वह करता है।

कामग्रह, इसी भवमें उपर्युक्त दुरावस्थाओंको प्राप्त करता है, यही नहीं, परन्तु वह अनेकों भवोंके लिये दु:खोंका पात्र बना देता है। ऐसे दुष्ट कामग्रहसे हजारों नहीं, बल्कि लाखों कोस दूर रहना ही आत्मार्थी पुरुषोंके लिये उचित है। स्त्रीरूपी नदीमें हजारों, लाखों और करोडों मनुष्य डूब मरते हैं। इस विषयमें शास्त्रकार कहते हैं:—

" सिंगारतरंगाए विलासवेलाए जुव्वणजलाए।
के के जयंमि पुरिसा नारीनईए न बुड्डंति ?" ॥ १ ॥

शृंगार हैं तरंगें जिसकी, विलास हैं किनारे जिसके और यौवन है पानी जिसका, ऐसी स्त्रीरूपी नदीमें, जगत्के कौन कौन पुरुष हैं, जो नहीं डूबे, अर्थात्–वीतराग और उनके सच्चे भक्तोंके सिवाय सभी डूबे हैं। जैसे—

" हरिहरचउराणणचंदसूरखंदाइणोवि जे देवा।
नारीण किंकरत्तं कुणंति धी धी विसयतिन्हा " ॥ १ ॥

हरि (कृष्ण), हर (शंकर), ब्रह्मा, चंद्र, सूर्य, कार्त्तिकस्वामी और अन्य भी इन्द्रादि देवोंने, अबलाओंके बलसे पराजित होकर किंकरत्वको प्राप्त किया है। अत एव विषयतृष्णाको बारबार धिक्कार है।

इसी तरह भर्तृहरि भी अपने शृंगारशतकमें लिखते हैं:—

" शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय
तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय " ॥ १ ॥

वचनसे अगोचर चरित्रवाले कामदेवको नमस्कार है कि, जिसने शंभु, स्वयंभु और हरिको भी स्त्रियोंका दास–घरका पानी भरनेवाले दास–बनाए हैं।

इनके सिवाय देखिये, इलाचीपुत्रका दृष्टान्त। इलाचीपुत्रको उसके माता–पिताने बहुत कुछ समझाया; परन्तु वह कामवश हो कर अपनी ज्ञातिको छोड़ करके नट बन गया। देखिये रावण, कि जो, बड़ा सुभट और चतुर था, तिस पर भी उसने सीता महासतीका हरण किया और इससे वह कुलका क्षय करके मृत्युके शरण हुआ। दुर्योधनने भी, सभासमक्ष द्रौपदी के वस्त्रों को हरण करते हुए जरा भी संकोच

नहीं किया। और इस पापसे उसको रणमें ही रहना पड़ा। अतएव इस जगत् में ऐसे थोड़े ही पुरुष हो गये हैं और होंगे, जिन्होंने इन्द्रियों-को अपने स्वाधीन की हों। इसके लिये कहा है:—

" आदित्यचन्द्रहरिशंकरवासवाद्याः
शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि।
तानीन्द्रियाणि वलवन्ति सुदुर्जयानि
ये निर्जयन्ति भुवने वलिनस्त एके " ॥ १ ॥

सूर्य, चन्द्र, हरि, शिव और इन्द्रादि देव भी अत्यन्त दुःख देनेवाली इन्द्रियोंके जीतनेमें समर्थ नहीं हुए, तब फिर ऐसी बलवान् दुर्जय इन्द्रियों को जीत ले, ऐसे सच्चे वीरपुरुष इस जगत् में थोड़े ही हैं।

इसके साथ यह भी याद रखनेका है, कि जो कामी पुरुष है, वह एकही इन्द्रियके विषयोंको नहीं, परन्तु पंचेन्द्रियोंके तेईसही विषयोंको सेवन करता है। इसके लिये भी कहा है:—

" जे कामांधा जीवा रमंति विसएसु ते विगयसंका।
जे पुण जिणवयणरया ते भीरू तेसु विरमंति " ॥१॥

जो कामान्ध जीव हैं, वे निःशंक होकर पंचेन्द्रियोंके तेईस विषयोंका सेवन करते हैं। और जो जिनवचनमें रक्त हैं, वे विषयोंसे विराग पाते हैं। क्योंकि वे संसारसमुद्रसे डरते हैं। विषयीपुरुषमें अगर अन्य कोई अच्छे भी गुण हों, तो भी वे निष्फलताको ही प्राप्त होते हैं। जैसे:—

" विद्या दया द्युतिरनुद्धतता तितिक्षा
सत्यं तपो नियमनं विनयो विवेकः।

सर्वे भवन्ति विषयेषु रतस्य मोघा
मत्वेति चारुमतिरेति न तद्वशित्वम्" ॥१॥

विद्या, कि जो समस्त सुखोंका साधन है; **दया**, जो धर्मका मूल है; **द्युति**, जो हजारों मनुष्योंकी सभामें सत्कारको प्राप्त कराती है; **अनुद्धतता**, जो विनयादि गुणोंको उत्पन्न कराती है; **तितिक्षा**, जो हजारों समयोंमें भी धैर्यको छुड़ाती नहीं; **सत्य**, जो जगत्में शिरोरत्न बनाता है; **तप**, जिसके प्रभावसे अनेकों भवोंके क्लिष्ट कर्म नाश होते हैं; **नियमन**, जिसके प्रभावसे मनुष्य अणिमादि ऋद्धिवाला बनता है; **विनय**, जो समस्त गुणोंका सरदार है, और **विवेक**, कि जो जड़-चैतन्यका ज्ञान कराता है, ऐसे ऐसे उत्तमोत्तम गुण भी, विषयमें आसक्त पुरुष के, निष्फल हो जाते हैं। इसी तरह निश्चयपूर्वक समझकरके सद्-बुद्धिवाले पुरुषोंने इंद्रियाधीन कभी नहीं होना चाहिये।

इन्द्रियाधीन पुरुष, फिर वह चाहे गुणवान् या ज्ञानी ही क्यों न हो, नीचमें नीच कार्यके करनेमें भी लज्जित नहीं होता। कहा है:—

" लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि बहुश्रुतोऽपि
धर्मस्थितोऽपि विरतोऽपि शमान्वितोऽपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निन्द्यम्" ॥१॥

इन्द्रियार्थरूप सर्पके विषसे व्याकुल मनुष्य, लोकमें पूज्य हो, बहुश्रुत हो, धर्ममें स्थित हो, संसारसे विरक्त हो और शान्तियुक्त हो, तथापि जगत्में ऐसा कोई भी निंद्यकार्य नहीं है, जो वह नहीं करता। कहनेका तात्पर्य यही है कि, नीचमें नीच कार्य करनेमें भी उसको लज्जा नहीं आती।

विषयान्ध पुरुष अपनी असली दशाको भी भूल जाता है। इसके लिये कहा है:—

" मरणेवि दीणवयणं माणधरा जे नरा न जंपंति।
तेवि हु कुणंति लल्लिं वालाणं नेहग्गहगिहिला " ॥ १ ॥

यद्यपि मानरूपी धनवाले पुरुष मरणान्तमें भी दीनवचन नहीं बोलते हैं। परन्तु वे भी, स्त्रियों के स्नेहरूपी ग्रहसे पागल होकर अत्यन्त दीनवचन बोलते हैं।

अहो! कामदेवका साम्राज्य कितना स्वतंत्र और सत्तावाला है? कहाँ तक कहना? सत्योपदेश के प्रभावसे सत्यमार्ग पर आनेवाले महापुरुषोंको भी भ्रष्ट करके स्वाधीन वनाने और नरकमें लेजानेमें अगर कोई समर्थ है, तो वह कामदेव ही है:—

" विसयविसेण जीवा जिणधम्मं हारिऊण हा! नरयं।
वच्चंति जहा चित्तयनिवारिओ वंभदत्तनिवो " ॥ १ ॥

जैनधर्मको त्याग करके, जीव विषयरूपी विषके आसेवनसे नरकमें जाते हैं। देखिये, चित्रसाधुके निवारण करने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ति का जीव—संभूतिमुनि अपने जन्मको हार गये।

एक दफे सनत्कुमार चक्रवर्त्ति की स्त्री सुनन्दा, अनशनकरनेवाले मुनियों को नम्रतापूर्वक नमस्कार करती थी। उस समय संभूतिसाधुको सुनंदा के केशों का अकस्मात् स्पर्श हो गया। और इससे उसको विकार उत्पन्न होनेके साथ ही इस प्रकार का निदान करने का परिणाम हुआ कि—' मेरी इस तीव्र तपस्या के प्रभावसे भवान्तरमें मैं ऐसी स्त्री को भोगनेवाला वन जाऊं'। इस समय चित्रमुनि, जो वहाँ बैठे हुए थे, अपने मनमें विचार करने लगे कि, ' अहो!

मोहका दुर्जयत्व कितना प्रवल है ? इंद्रियों की ऐसी दुर्दान्तता ! महान् घोर तपस्याओं के करनेवाले और जिनवचन के जाननेवाले इस मुनिको भी, अबलाके केशस्पर्श से विकार उत्पन्न हुआ । इतनाही नहीं, परन्तु ऐसी स्त्री के भोगने का निदान करनेका भी विचार हुआ !!, । ऐसे विचार करने के बाद चित्रमुनिने संभूतिमुनिसे कहाः—

" भाई ! ऐसे दुष्टनिदानवाले परिणामसे दूर हो जाओ । ये भोग असार, भयंकर परिणामवाले, विपाक को देनेवाले और संसार परिभ्रमणके हेतुभूत हैं । इस का आप निदान न करें । निदान करनेसे तपस्या के फल—स्वर्ग और मोक्ष—नष्ट हो जायेंगे " ।

चित्रमुनिने इसप्रकार शान्तिपूर्वक बोध किया । परन्तु कामाग्निके प्रवलवेगमें इस सिंचनसे कुछ भी असर नहीं हुआ । निदान, संभूति-मुनिने निदान किया ही । और वे मरकर के प्रथम स्वर्ग—सौधर्म देवलोक—में जाकर वहाँसे फिर मनुष्यलोकमें ब्रह्मदत्त हुए । इसी कारणसे उपर्युक्त गाथामें ' निवारिओ बंभदत्तनिवो ' ऐसा संक्षेपसे पद दिया है । सचमुच, जिस समय जीव प्रमाददशामें पड़ता है, उस समय स्नेही का स्नेह, उपकारी का उपकार और उपदेशकका उपदेश वगैरह कुछ भी ख्यालमें नहीं आते । शास्त्रोंमें ठीक ही कहा हैः—

" धी ! धी ! ताण नराणं जे जिणवयणामयंपि मुत्तूणं ।
चउगइविडंबणकरं पियंति विसयासवं घोरं " ॥ १ ॥

ऐसे मनुष्योंको वारवार धिक्कार है, कि, जो मनुष्य जिनराज के वचनरूपी अमृतको छोड चारों गतियोंमें दुःखोंको देनेवाले भयंकर विषयरूपी सुरापानको करते हैं ।

देखिये, तद्भवमोक्षगामी रथनेमी भी एकदफे विषयविषसे मूर्छित होगये थे:—

" जउनन्दनो महप्पा जिणभाया वयधरो चरमदेहो।
रहनेमी रायमई रायमइं कासि ही! विसया " ॥ १ ॥

यदुनन्दन, बाईसवें तीर्थंकर परमात्मा श्रीनेमनाथके भाई और पंचमहाव्रतधारी चरमशरीरी रथनेमी भी राजीमति पर मोहित हो गये। हा! ऐसे विषयोंको धिक्कार है!।

जिसका मोक्ष इसी भवमें होनेवाला है, ऐसे महापुरुषोंको भी जब विषय, विडंबनामें डाल देता है, तब फिर, जिनको अभी बहुत संसार परिभ्रमण करनेका है, ऐसे जीवोंकी दुर्दशा करे, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? चाहे जैसा प्रतापी पुरुष ही क्यों न हो, उसका प्रताप भी इन्द्रियोंके सामने लुप्त हो जाता है। कहा है:—

" दन्तीन्द्रदन्तदलनैकविधौ समर्थाः
सन्त्यत्र रौद्रमृगराजवधे प्रवीणाः।
आशीविषोरगवशीकरणेऽपि दक्षाः
पञ्चाक्षनिर्जयपरास्तु न सन्ति मर्त्याः " ॥ १ ॥

मदोन्मत्त हाथीके दांतोंको चूर्ण कर देनेमें समर्थ, भयंकर केशरीसिंहको मार देनेमें प्रवीण और जिनकी दाढ़ोंमें विष रहा हुआ है, ऐसे सर्पों को वश करनेमें चतुर पुरुष संसारमें सैंकडों हैं; परन्तु पञ्चेन्द्रियोंको सर्वथा विजय करनेमें तत्पर कोई मनुष्य नहीं है। अर्थात् बहुत थोडे ही देखनेमें आते हैं। इसीकी पुष्टिमें कहा गया है:—

" तावन्नरो भवति तत्त्वविदस्तदोषो
मानी मनोरमगुणो महनीयवाक्यः।

शूरः समस्तजनतामहितः कुलीनो
यावद् हृषीकविषयेषु न शक्तिमेति" ॥ १ ॥

मनुष्य ज्ञानी, दोषरहित, मानी, मनोहरगुणवाला, पूजनीय वाक्य-वाला, शूरवीर, समस्त लोगोंका पूज्य और कुलीन तब ही तक गिना जा सकता है, जब तक वह विषयासक्त नहीं होता। अर्थात्—इन्द्रियाधीन होते ही, उसके समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं।

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि—विषय, मनुष्यको छोड़ते हैं, परन्तु मनुष्य विषयों को नहीं छोड़ते। हम सभी ऐसा समझते हैं कि, 'जगत् के समस्त जीव सुख के अभिलाषी और दुःख के द्वेषी हैं।' परन्तु यदि यह बात सर्वथा सत्य ही है, तो फिर जगत् के प्राणी अप्राप्त विषयों को भी प्राप्त करनेके लिये क्यों प्रयत्न करते हैं? ऐसे ऐसे कष्टोंको क्यों उठाते हैं? क्यों एक ही विषय के लिये नहीं करने योग्य कृत्य करते हैं? क्यों वास्तविक सुखको देनेवाले चारित्रधर्म से डरते हैं? ये जरा विचारने योग्य बातें हैं। संसार में ऐसे बहुत मनुष्य देखने में आते हैं, जो साधु के पास जाने में भी बहुत डरते हैं। वे विचार करते हैं कि—शायद हमको उपदेश देकर साधु बना दे तो? अथवा मुझसे किसी वस्तुका त्याग करावें तो? अरे! जब तक मनुष्यको ऐसे विकल्प होते हैं और तृष्णा की इतनी तीव्रता रही हुई है, तब तक वे सुख के अभिलाषी हैं, ऐसा क्योंकर कहा जाय? जिस वस्तुमें स्वभावतः विष देख रहे हैं, उस वस्तुके त्यागनेका भी मन न हो, त्याग करनेका मन होना तो दूर रहा, बल्कि, उसके अधिक प्राप्त करने ही की इच्छा हो, तो फिर आत्म-कल्याणकी आशा, आकाश से पुष्प प्राप्त करने की इच्छा जैसी नहीं, तो और क्या है? सत्य बात तो यही है कि, जो मनुष्य सुखके

अभिलाषी हैं, वे कभी चारित्रधर्म, शुद्ध उपदेश और त्यागभावसे नहीं डरते हैं। शास्त्रों में कहा है कि—धार्मिक पुरुषोंका कट्टर शत्रु, अगर कोई है, तो वह कामदेव ही है:—

"नारिरिमं विदधाति नराणां रौद्रमना नृपतिर्न करीन्द्रः।
दोषमहिर्न न तीव्रविषं वा यं वितनोति मनोभववैरी॥ १॥
एकभवे रिपुपन्नगदुःखं जन्मशतेषु मनोभवदुःखम्।
चारुधियेति विचिन्त्य महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयन्ति" ॥२॥

मनुष्य को जो दुःख शत्रु नहीं देता, रौद्रमनवाला राजा नहीं देता, हाथी नहीं देता और सर्पका तीव्र विष भी नहीं देता, वह दुःख कामदेव से होता है। शत्रु और सर्पादि का दुःख एक भवके लिये होता है। परन्तु कामदेव से उत्पन्न दुःख, सैंकडों भवों तक साथ ही जाता है इसी लिये सुंदर और निर्मल बुद्धिवाले महापुरुष कामदेव का एक क्षणमें ही विनाश कर देते हैं। और जो हीनसत्त्व जीव हैं, उन को ही, कामदेव संसारसमुद्रमें जन्म—मरणादि कष्ट देता है।—

" हा ! विसमा हा ! विसमा विसया जीवाण जेहिं पडिबद्धा।
हिंडंति भवसमुद्दे अनंतदुक्खाइ पावंता "॥ १॥

हा ! विषय ऐसे विषम हैं, कि जिन्होंमें लगा हुआ जीव, इस संसारसमुद्रमें अनंत दुःखों को प्राप्त करता है।

प्रियवाचक ! एक दफे फिर इस बातका स्मरण कर जाँय कि इन्द्रजाल जैसे स्वभाववाले, बिजलीके चमत्कार जैसी गतिवाले और क्षणमें नष्ट होनेवाले विषयोंमें मोहित जीवों की कैसी दशा होती है:—

"योगे पीनपयोधराञ्चिततनोर्विच्छेदने बिभ्यतां
मानस्यावसरे चटूक्तिविधुरं दीनं मुखं बिभ्रताम्।

विश्लेषे स्मरवह्निनाऽनुसमयं दंदह्यमानात्मनां
भ्रातः ! सर्वदशासु दुःखगहनं धिक्कामिनां जीवितम् " ॥१॥

हे भाई ! पुष्ट स्तनसे युक्त शरीरवाली स्त्रीके संयोगसे पृथक् होनेमें डरनेवाले, स्त्रीके मानके समय मिष्ट वचनोंसे विह्वल एवं दीन मुखको धारण करनेवाले, और वियोगावस्थामें कामरूप अग्निसे प्रतिसमय जलनेवाले कामीपुरुषोंके सर्वदा दुःखमय जीवनको धिक्कार है ।

संसारमें देखा जाता है कि—जो पुरुष स्त्रीके अधीन बनता है, वह स्त्रीकी लातको पुष्पोंका वरसाद, और स्त्रीके मुखसे निकलने वाली लारको अमृतरस समझता है ! इसमें भी अगर स्त्री जरासा हंसकर बोले, तब तो वह अपनेको अहमिन्द्र समझने लग जाता है । कहाँ तक कहा जाय ! कामीपुरुष समस्त दुर्गुणोंको गुण ही समझता है । परन्तु जब विषयजन्य विरसरसका ख्याल आता है तब वह कुछ विचारशील बनता है ।

अन्तमें—हे भव्यो ! यदि कल्याणके सत्यमार्ग की चाहना है, तो इंद्रियोंके विषयोंसे विमुख होजाना ही श्रेयस्कर है । सरसों जैसे सुखमें मोहित होकर, मेरु समान दुःखका स्वीकार न करो। जिस समय आत्मारूपी रत्न संकल्प—विकल्पजन्य क्रोध, मान, माया, लोभ और राग—द्वेषादि शत्रुसमूहरूप किच्चडसे दूर होगा, तभी उसका सच्चा स्वरूप प्रकाशित होगा । अत एव यदि आत्मकल्याणकी अभिलाषा है, तो इंद्रियोंरूपी चोरोंसे सर्वथा दूर हो जाओ । और कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचंद्राचार्यके इस वचनको बराबर स्मरणमें रक्खोः—

" आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ १ ॥

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च " ॥ २ ॥

" इन्द्रियोंकी स्वतंत्रता, यह दुःखका मार्ग है और उनका जय, सुखका मार्ग है । इनमें जो इष्ट हो, उस मार्गको ग्रहण करो । तथा, इसी कारणसे इन्द्रियोंको वशमें रखना, यह स्वर्गका कारण और इन्द्रियोंको स्वतंत्रता देनी, यह नरकका हेतु है । इस लिये समस्त जीव इन्द्रियोंको वशमें रखकर स्वर्गके और परंपरासे मोक्षके अधिकारी बनें ऐसी अन्तःकरणकी शुभ भावना के साथ इसको समाप्त किया जाता है ।

" ३९ वें पेजमें ९८ वें श्लोकका एक पद भूलसे रह गया है, वह इस प्रकार है:—न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥ "